गीतामृत तरंगिणी

श्री. वेङ्कटेश्वर प्रेस प्रकाशन

श्रीः ।

गीतामृततरंगिणी

श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मज पंडित
रघुनाथप्रसादजीकृत ।

श्रीमद्भगवद्गीताकी भाषाटीका.

जिसको

खेमराज श्रीकृष्णदासने,
निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेसमें
छापकर प्रकाशित किया ।

संवत् २०३५ शकाब्द १९००

मुंबई.

30/-

भूमिका।

हम बडे आनंदसे सर्व सद्धर्मावलंबियोंको विदित करते हैं कि, यह "भगवद्गीता" ग्रन्थ सर्व लोगोंको धर्मग्रंथ शिरोमणि-रूपसे मान्य है। प्रायः समस्त सनातनधर्माभिमानी विज्ञलोगोंको पाठ आता है. साधारणसे भी साधारण क्यों न हो एक आध श्लोकका तो मुखसे उच्चारण करता ही है. ऐसा इस ग्रंथका माहात्म्य है. यह क्यों नहीं हो कि, जो साक्षात् पद्म-नाभ भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजीने परम भक्त अर्जुनको श्रीमुखसे निरूपण करा है. जिसमें एकएक अक्षर तत्त्वज्ञानसे भरा हुआ है. ऐसा यह ग्रंथ है तो इसकी इतनी महिमा होना क्या आश्चर्य है ! यह ऐसी गीता सर्व उपनिषदोंके साररूप है। श्रीकृष्णजीने इसको निकाली है, अर्जुनजीने इसका प्रथम आस्वाद लिया है. इसके भोक्ता बुद्धिमान् लोग हैं. यह परम पवित्र और चतुर्विध पुरुषार्थको सिद्ध करता है.

ऐसा यह तत्त्वज्ञान महाभारतके भीष्मपर्वमें श्रीव्यासमुनिने ग्रंथरूपसे निरूपण किया है, यह ग्रंथ संस्कृतभाषामें रहनेसे इसका अर्थ समझनेमें सर्व साधारण लोगोंको पराधीन करता था. यह न्यूनता देखकर मैंने इस ग्रंथकी "गीतामृततरंगिणी" नामक भाषाटीका निर्माण करी. इसको प्रथम आवृत्तिमें अन्यत्र छपवाया था वह आवृत्ति हाथोंहाथ बिकगई. इस वास्ते अब इस भाषाटीकाका रजिस्टरी हक्क सदाहीके लिये यथोचित पारि-तोषिक पाकर बड़े उत्साहसे श्रीमान् सेठ खेमराज श्रीकृष्ण-दासजी "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखानाके अधिपतिको निवेदन

किया है. उन सेठ श्रीखेमराज श्रीकृष्णदासजीने यह ग्रंथ परम उत्साहसे अपने "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखानामें सुन्दर मनोहर अक्षरोंमें पुष्ट चिकने कागजपर छापके प्रसिद्ध किया है.

अब हम आशा रखते हैं कि, इस अलभ्य मनोहर भाषा-टीका समेत पुस्तकको संग्रह करके भगवदुक्त तत्त्वज्ञानको पाकर परम आनंदका विद्वान् अनुभव करेंगे.

सुकुल सीतारामात्मज

पण्डित रघुनाथप्रसाद.
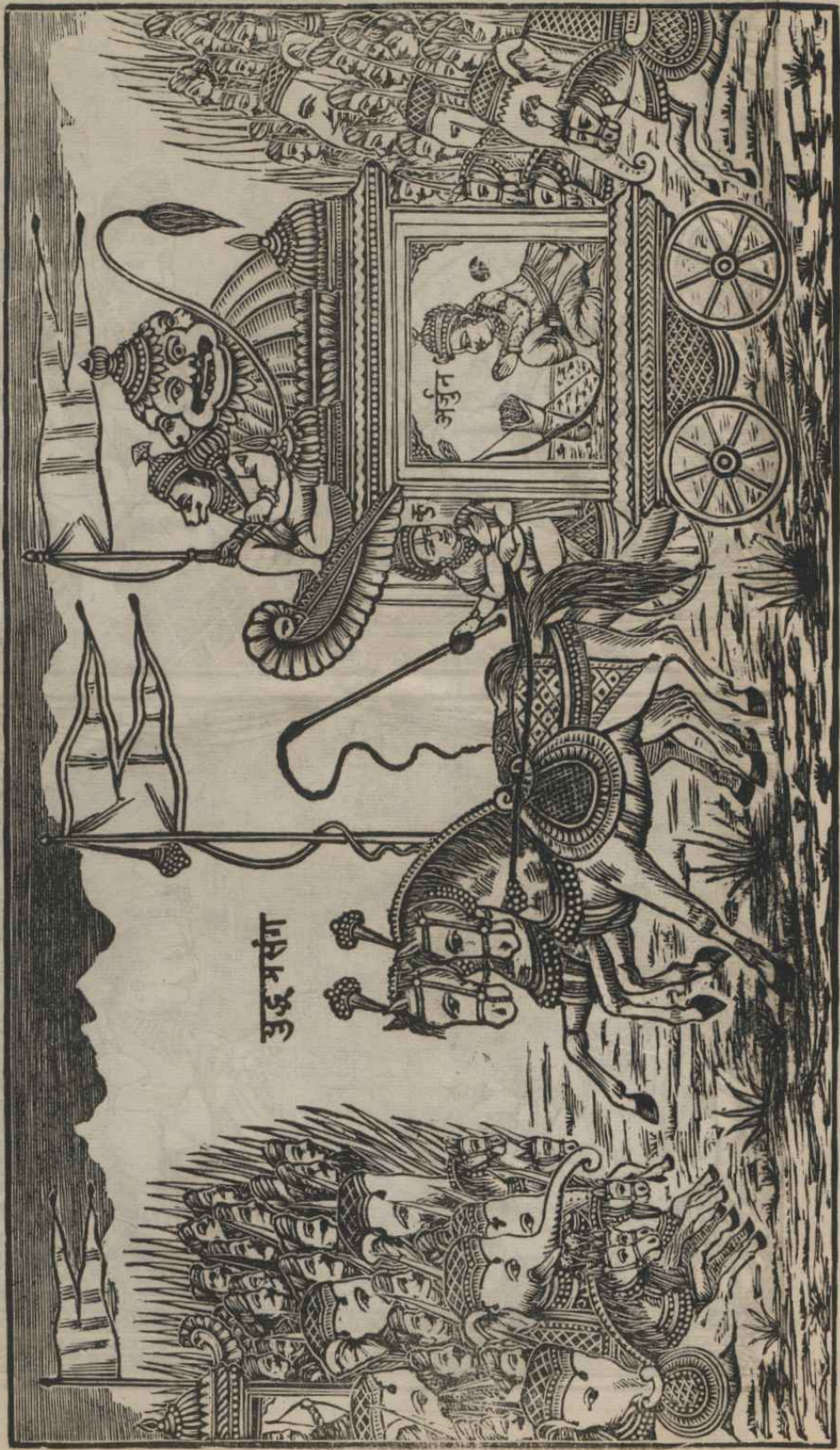
युद्धप्रसंग
अर्जुन
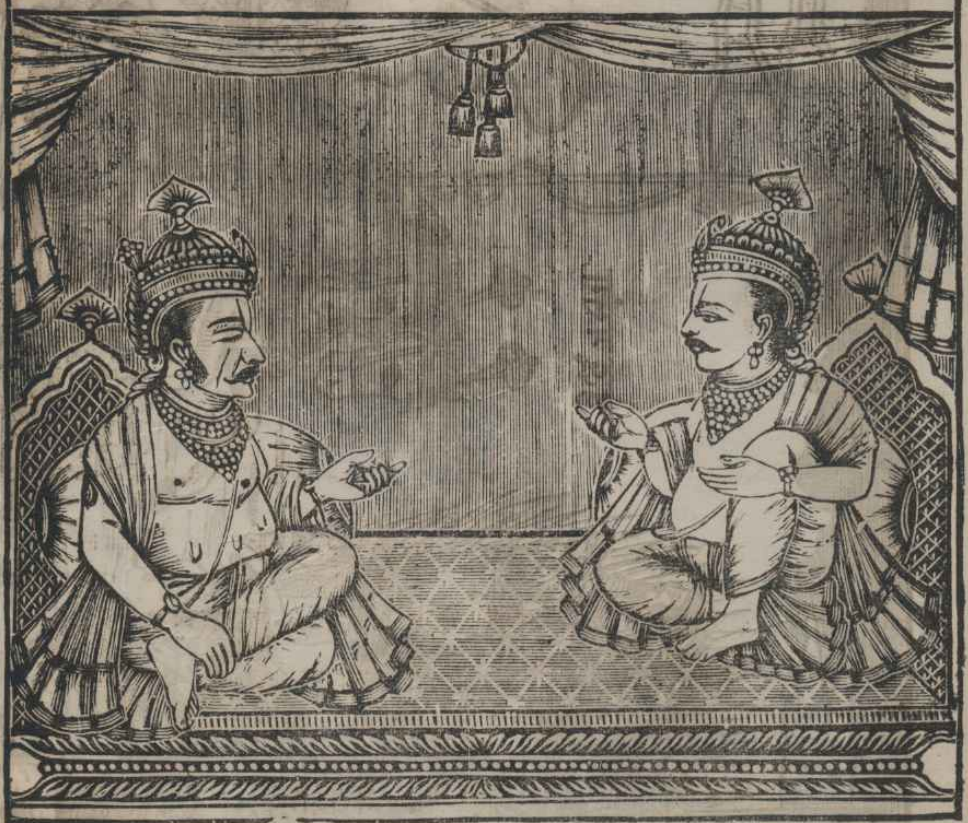
अथ श्रीमद्भगवद्गीतार्थवाङ्मयी मूर्ति

वक्राणि पंच जानीहि पंचाध्यायाननुक्रमात् ।
दशाध्याया भुजाश्चैकमुदरं द्वौ पदांबुजे ॥ १ ॥
एवमष्टादशाध्यायी वाङमयी मूर्मिरैश्वरी ।
जानीहि ज्ञानमात्रेण महापातकनाशिनी ॥ २ ॥

इसं मूर्तिमें अंक डालनेका मतलब यह है कि जिस जिस अध्यायके जो जो अंग हैं उन उन अंगोंमें उन उन अध्यायोंके अंक लिखे हैं।

आकाश
अतल
वितल
सुतल
महातल
रसातल
तलातल
पाताल

॥ श्रीः ॥

अथ श्रीभगवद्गीतामाहात्म्य।

भाषाटीकासहित।

ऋषिरुवाच।

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद।
पुराणमुनिना प्रोक्तं व्यासेन श्रुतिनोदितम् ॥ १ ॥

नत्वा रामानुजं कृष्णं गीताचार्यं जगद्गुरुम्।
गीतामाहात्म्यसद्व्याख्यां कुर्वे प्राकृतभाषया ॥ १ ॥

अनेकप्रकारकी कथा सुनते सुनते शौनकऋषि सूतजीसे प्रश्न करते हुए कि हे सूत! जो श्रीमद्भगवद्गीताका वेदोक्त माहात्म्य श्रीव्यासजीने कहा है (सो यथावत् मुझसे कहो) ॥ १ ॥

सूत उवाच।

पृष्टं वै भवता यत्तन्महद्गोप्यं पुरातनम्।
न केन शक्यते वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

शौनकका प्रश्न सुनके सूतजी बोले कि जो तुमने मुझसे पूछा वह अतिगोप्य एवं प्राचीन है, अतः गीताका अतिउत्तम माहात्म्य कोई भी कहनेको समर्थ नहीं है ॥ २ ॥

कृष्णो जानाति वै सम्यक् कचित्कौन्तेय एव च।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रकारसे तो कृष्ण ही जानते हैं और किंचित् अर्जुन तथा व्यासजी, शुकदेवजी, याज्ञवल्क्य अथवा जनक जानते हैं ॥ ३ ॥

अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लोके संकीर्त्तयन्ति च।
तस्मात्किंचिद्वदाम्यद्य व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ॥ ४ ॥

और जन कानोंसे सुनके लोकमें वर्णन करते हैं, परंतु जानते नहीं, इससे जैसा मैंने श्रीव्यासजीके मुखारविंदसे सुना है वैसा कुछ थोड़ा कहूँगा ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥५॥

सर्व उपनिषदें तो गऊरूप हुईं; दुहनेवाले श्रीकृष्ण और बछरारूपी महात्मा अर्जुन प्रथम पान किये, पीछे यह गीतारूप दूध अतिमिष्ट लोकमें प्रकट हुआ ॥ ५ ॥

सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
सर्वलोकोपकारार्थं तस्मै कृष्णाय ते नमः ॥ ६ ॥

जो भगवान् प्रथम अर्जुनका सारथिपना करते करते सर्वलोकोंके उपकारके वास्ते अर्जुनको गीतारूप अमृत देते हुए ऐसे आप श्रीकृष्णको मेरा नमस्कार है ॥ ६ ॥

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो जनः ।
गीतानावं समारुह्य पारं यातु सुखेन सः ॥ ७ ॥

जो संसारघोरसागर तरना चाहता हो; वह गीतारूपी नाव पर बैठके सुखसे पार पाता है ॥ ७ ॥

गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम्॥८॥

जिसने गीतासंबन्धी ज्ञान सदा अभ्यासयोगसे नहीं सुना है और वह मूर्ख मोक्ष चाहता है तो वह बालकोंकरके उपहासको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवा एव न संशयः ॥ ९ ॥

जो रातदिन गीता पढ़ते और सुनते हैं वे मनुष्य नहीं, देवता ही हैं ऐसे जानना, इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

गीताज्ञानेन संबोध्य कृष्णः प्राह तमर्जुनम् ।
अष्टादशपदस्थानं गीताध्याये प्रतिष्ठितम् ॥ १०॥

श्रीकृष्णभगवान् अर्जुनको गीताके ज्ञानसे संबोधन देकर बोले कि इस गीताके प्रत्येक अध्यायमें अष्टादशपद (विष्णु) का स्थान (परम पद) स्थापित है ॥ १० ॥

मोक्षस्थानं परं पार्थ सगुणं वाथ निर्गुणम् ।
सोपानाष्टादशैरेवं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! सगुण अथवा निर्गुण स्वइच्छाप्रमाण मोक्षस्थान पर अठारह अध्यायरूप सोपानों करके परब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ १२॥

जो प्रति दिन जलस्नान है वह मनुष्योंके शरीरमलका नाशक है और एक बार भी इस गीतारूप जलका स्नान संसारदुःखरूप मलका नाशक है ॥ १२ ॥

गीताशास्त्रस्य जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
परस्मान्न श्रुतं ज्ञानं नैव श्रद्धा न भावना ॥ १३ ॥
स एव मानुषे लोके पुरुषो विड्वराहकः ।
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १४॥

जो गीताशास्त्रका पढ़ना पढ़ाना नहीं जानता है, न दूसरेसे सुना, न जिसके श्रद्धा है और न भावना है वह पुरुष इस लोकमें ग्रामसूकरके समान है; क्योंकि जिससे वह गीता नहीं जानता है इसीसे उसके सिवाय दूसरा अधम नहीं है ॥ १३ ॥ १४ ॥

धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनताम् ।
गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १५ ॥

जो गीतार्थको नहीं जानता है उसके मनुष्यदेहको, ज्ञानको और कुलीनताको धिक्कार है और उससे अधिक कोई अधम नहीं है ॥ १५ ॥

धिक्सुरूपं शुभं शीलं विभवं सद्‌गृहाश्रमम् ।
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥१६॥

जो गीताशास्त्रको नहीं जानता है उसके सुंदर रूपको, सुंदर शीलको, विभवको और श्रेष्ठ गृहाश्रमको धिक्कार है और उससे अधिक अधम दूसरा नहीं है ॥ १६ ॥

धिक्प्रागल्भ्यं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महात्मताम् ।
गीताशास्त्रे रतिर्नास्ति तत्सर्वं निष्फलं जगुः ॥१७॥

जिसकी गीताशास्त्रमें प्रीति नहीं उसकी हिम्मत, प्रतिष्ठा, पूजा, मान और महात्मापनेको धिक्कार है और उसका सर्व कर्म निष्फल है ॥ १७ ॥

धिक्तस्य ज्ञानमाचारं व्रतं चेष्टां तपो यशः ।
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १८ ॥

जिसने गीतार्थका पठन नहीं किया उसके ज्ञान तथा आचार, व्रत, चेष्टा, तप और यशको धिक्कार है, उससे अधिक कोई जन अधम नहीं है ॥ १८ ॥

गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसंज्ञकम् ।
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ॥ १९ ॥

जो ज्ञान गीताका गाया नहीं है उस ज्ञानको आसुरी ज्ञान जानना, वह व्यर्थ और धर्मरहित तथा वेदवेदांतकरके निन्दित है १९॥

यस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ।
सर्वशास्त्रमयी गीता तस्माद्गीता विशिष्यते ॥२०॥

जिससे कि गीता धर्ममयी और सर्वज्ञानोंमें प्रवृत्त करनेवाली और सर्वशास्त्रमयी है; इससे गीता सब शास्त्रोंसे श्रेष्ठ है ॥२०॥

योऽधीते सततं गीतां दिवा रात्रौ यथार्थतः ।
स्वपन्गच्छन्वदंस्तिष्ठञ्छाश्वतं मोक्षमाप्नुयात् ॥२१॥

जो निरंतर रातदिन अर्थसहित गीताको सोते, चलते,बोलते और खड़े होनेपर भी पढ़ते रहते हैं वे सनातन मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥२१॥

शालग्रामशिलाग्रे तु देवागारे शिवालये।
तीर्थे नद्यां पठेद्यस्तु वैकुण्ठं याति निश्चितम्॥२२॥

शालग्रामके संमुख,देवमंदिरमें,शिवालयमें,तीर्थमें और नदी-किनारे जो गीताको पढ़ता है वह निश्चय वैकुण्ठको जाता है ॥२२॥

देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति।
यथा न वेदैर्दानैश्च यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥ २३ ॥

जैसे श्रीदेवकीनंदन कृष्ण गीतापाठसे संतुष्ट होते हैं वैसे वेद-पाठ, दान, यज्ञ, तीर्थ और व्रतादिकोंसे नहीं संतुष्ट होते ॥२३॥

गीताऽधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा।
तेन वेदाश्च शास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः ॥ २४ ॥

जिसने भक्तिभावपूर्वक चित्त लगाकर गीताका अध्ययन किया वह सर्व वेद, शास्त्र और पुराण भी पढ़ चुका ॥ २४ ॥

योगिस्थाने सिद्धपीठे शिष्टाग्रे सत्सभासु च।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन्याति परां गतिम् ॥२५॥

योगीके स्थानमें, विंध्येश्वरी इत्यादि सिद्धपीठमें, श्रेष्ठपुरुषके संमुख, साधुसभामें, यज्ञमें और विष्णुभक्तके संमुख पाठ करनेसे जन मोक्ष पाता है ॥ २५ ॥

गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिनेदिने।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥२६॥

जो प्रतिदिन गीताका पाठ और श्रवण करता है वह सब अग्नि-ष्टोमादिक और अश्वमेधादिक दक्षिणासहित यज्ञ कर चुका॥२६॥

यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयेच्च स्वयं पुमान्।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥ २७ ॥

जो गीताका अर्थ सुने और आप कहे दूसरोंको श्रवण करावे वह परमपदको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

गीतायाः पुस्तकं नित्यं योऽर्चयत्येव सादरम् ।
विधिना भक्तिभावेन तस्य पुण्यफलं शृणु ॥२८॥

जो आदरपूर्वक नित्य गीताकी पुस्तकको विधिपूर्वक भक्तिभावसंयुक्त पूजता है उसके पुण्यका फल सुनो ॥ २८ ॥

सकला चोर्वरा तेन दत्ता यज्ञे भवेत्किल ।
व्रतानि सर्वतीर्थानि दानानि सुबहून्यपि ॥ २९ ॥

वह गीताके पूजनेवाला यज्ञमें सर्व पृथ्वी दान दे चुका; तथा सर्वव्रत सर्वतीर्थ और बहुतसे दान भी कर चुका ॥ २९ ॥

भूतप्रेतपिशाचाद्यास्तत्र नो प्रविशन्ति वै ।
अभिचारोद्भवं दुःखं परेणापि कृतं च यत् ॥ ३० ॥

जिस घरमें गीताका पूजन होता है वहां भूत, प्रेत, पिशाचादिक और दूसरेके किये मंत्रयंत्रादिक अभिचारज दुःख भी नहीं प्रवेश कर सकते हैं ॥ ३० ॥

नोपसर्पन्ति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ।
तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिभयं तथा ॥ ३१ ॥

जिस घरमें गीताका पूजन है, वहां दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापोंकी पीडा और रोगकृतपीडा नहीं होती है ॥३१॥

न शापं नैव पापं च दुर्गतिं न च किंचन ।
देहेऽरयः षडेते वै न बाधन्ते कदाचन ॥ ३२ ॥

वहां किसीका शाप और पाप और दुर्गति कभी नहीं होती है तथा देहमें वर्तमान जो पांच ज्ञानेंद्रिय, एक मन ऐसे छः शत्रु भी पीडा नहीं करते हैं ॥ ३२ ॥

भगवत्परमेशाने भक्तिरव्यभिचारिणी ।
जायते सततं तत्र यत्र गीताभिनन्दनम् ॥ ३३ ॥

जहाँ गीताके अर्थका निरंतर विनोद होता है वहाँ भगवान्में अति उत्तम अखंड भक्ति उत्पन्न होती है ॥ ३३ ॥

प्रारब्धं भुञ्जमानोऽपि गीताभ्यासे सदा रतः ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपबध्यते ॥३४॥

जो सर्वकाल गीताके ही अभ्यासमें निरत है वह प्रारब्धवशसे संसार भी भोगता है तो भी वह मुक्त और सुखी है, तथा कर्मके द्वारा बंधनमें नहीं आ सकता ॥ ३४ ॥

महापापादिपापानि गीताऽध्यायी करोति चेत् ।
न किंचित्स्पृशते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥३५॥

जो नित्य गीताका श्रवण, पठन मनन करता हो और वह दैवयोगसे भूलमें ब्रह्महत्यादिक महापाप भी करडाले तो भी जलसे कमल पत्रके समान लिप्त नहीं होता है ॥ ३५ ॥

स्नातो वा यदि वाऽस्नातः शुचिर्वा यदिवाऽशुचिः ।
विभूतिं विश्वरूपं च संस्मरन्सर्वदा शुचिः ॥ ३६ ॥

स्नान किये हो अथवा न किये हो पवित्र हो अथवा अपवित्र हो, विभूतियोग और विश्वरूपदर्शन अध्यायको पढ़ता हुआ मनुष्य सदा पवित्र रहता है ॥ ३६ ॥

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादि कृतं च यत् ।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पर्शस्पर्शजं तथा ॥ ३७ ॥
ज्ञाताज्ञातकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत् ।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥३८॥

जो अनाचारसे और जो निन्दित शब्द बोलनेसे, अभक्ष्य-भक्षणसे, एवं न छूने योग्यके छूनेसे पाप हुए हों; तथा जो जान और अजानमें नित्य इंद्रियोंसे पाप होते हैं वे सब गीतापाठसे तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिग्राही च सर्वशः ।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥ ३९ ॥

जो सर्वत्र भोजन करता हो, सर्वत्र प्रतिग्रह लेता हो वह भी गीतापाठ करने पर पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ३९ ॥

रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रगृह्यातिविधानतः ।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धः स्फटिकवत्सदा ॥ ४० ॥

विधिहीन रत्नपूरित पृथिवीका दान भी लेकर एक गीतापाठसे शुद्धस्फटिकमणिके समान निष्पाप होता है ॥ ४० ॥

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा ।
सर्वाग्निकः सदा जापी क्रियावान्स च पण्डितः ॥ ४१ ॥

जिसका अंतःकरण सदा गीतामें रमता हो वह सर्व अग्नि-होत्री, सदा जप करनेवाला, क्रियावान् और पंडित है ॥ ४१ ॥

दर्शनीयः स धनवान्स योगी ज्ञानवानति ।
स एव याज्ञिको ध्यानी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥ ४२ ॥

वही दर्शनयोग्य है, वही धनवान्, योगी, ज्ञानवान्, याज्ञिक ध्यानी और सर्ववेदोंके अर्थको देखनेवाला है ॥ ४२ ॥

गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यं पाठे प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥ ४३ ॥

गीताका पुस्तक जहां नित्य पाठमें वर्तमान हो वहां पृथिवीभरके सर्व प्रयागादितीर्थ सदा रहते हैं ॥ ४३ ॥

निवसन्ति सदा गेहे देहे देशे सदैव हि।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ॥ ४४ ॥

और उस देशमें, घरमें और देहमें भी सब देव, ऋषि, योगी और पन्नग भी सदा निवास करते हैं ॥ ४४ ॥

गोपालबालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्त्तते ॥ ४५ ॥

जहां गीता प्रवृत्त होती है वहां नारद, ध्रुव और सर्व पार्षदों-सहित गोपाल बालकृष्ण शीघ्र ही सहायक होते हैं ॥ ४५ ॥

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा।
तत्राहं निश्चितं पार्थ निवसामि सदैव हि ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि हे पार्थ! जहां नित्य गीताका विचार एवं पठन–पाठन होता है वहां मैं निश्चय सर्वदा रहता हूँ ४६

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्यग्र्यं गीता मे ज्ञानमक्षयम् ॥४७॥

हे अर्जुन! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार है, गीता मेरा अतिअग्रज्ञान और अक्षय ज्ञान ही है ॥ ४७ ॥

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं गृहम्।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ४८॥

गीता मेरा उत्तम स्थान है और गीता मेरा उत्तम गृह है, इसी गीताके ज्ञानको धारण करके मैं तीनों लोकोंको पालता हूँ ४८॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः।
अर्द्धमात्राक्षरा नित्या स्वनिर्वाच्यपदात्मिका ॥४९॥

गीता मेरी उत्तम विद्या है, गीता ब्रह्मरूप है, इसमें संशय नहीं।

अर्द्धमात्रा, नाशरहित, सनातन, अनिर्वाच्यपदरूप ऐसी परा वाणीरूप मेरी यह गीता है ॥ ४९ ॥

गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव ।
कीर्त्तनात्सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥५०॥

हे पांडव ! गीताके जो गुप्त नाम हैं उन्हें मैं तुमसे कहता हूँ जिनके कीर्तनसे तत्काल सर्व पाप क्षय हो जाते हैं ॥ ५० ॥

अथ गीतानामानि ।

गीता गङ्गा च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ।
ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसन्ध्या मुक्तगेहिनी ॥५१ ॥
अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भयनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्ता तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥ ५२ ॥

अब गीताके नाम कहते हैं:—गीता १, गंगा २, गायत्री ३, सीता ४, सत्या ५, सरस्वती ६, ब्रह्मविद्या ७, ब्रह्मवल्ली ८, त्रिसंध्या ९, मुक्तगेहिनी १०, अर्द्धमात्रा ११, चिदानंदा १२, भवघ्नी १३, भयनाशिनी १४, वेदत्रयी १५, परा १६, अनंता १७ और तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी १८ ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

इत्येतानि जपन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथान्ते परमं पदम् ॥५३॥

गीताके इन १८ नामोंको नित्य मन स्थिर करके जपता रहे तो शीघ्र ही ज्ञानसिद्धिको प्राप्त होके अंतमें मोक्षको प्राप्त होता है ५३॥

पाठेऽसमर्थः संपूर्णे तदर्द्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५४ ॥

जो संपूर्ण पाठ न कर सके तो आधी गीताका अर्थात् नव अध्यायोंका पाठ करे तो एक गोदानका पुण्य प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं ॥ ५४ ॥

षडंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत्।
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत्॥ ५५॥

छठे अंश (तीन अध्याय) का नित्य पाठ करे तो गंगास्नानका फल मिलाता है और तीसरे भाग (छः अध्याय) का नित्य पाठ करनेसे सोमयागका फल प्राप्त होता है॥ ५५॥

तथाऽध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम्।
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद्ध्रुवम्॥ ५६॥

दो अध्यायोंका नित्य पाठ करता रहे तो इंद्रलोकको प्राप्त होके वहां एक कल्प वास करता है॥ ५६॥

एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम्॥ ५७॥

जो एक ही अध्यायका निरंतर नियमसे भक्तिपूर्वक पाठ करता है तो वह रुद्रलोकको प्राप्त होकर वहां शंकरका गण होके बहुत कालपर्यंत अर्थात् कल्पपर्यंत निवास करता है॥ ५७॥

अध्यायार्द्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः।
स प्राप्नोति रवेर्लोकं मन्वन्तरशतं समाः॥ ५८॥

जो मनुष्य गीताका आधा अथवा पाव अध्यायका भी नित्य नियमसे पाठ करता रहे तो वह सूर्यलोकमें सौ मन्वंतरके वर्षोंपर्यंत वास करता है॥ ५८॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम्।
त्रिकद्विकैकमर्द्धं वा श्लोकानां च पठेन्नरः।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतायुतम्॥ ५९॥

जो गीताके दश श्लोक अथवा सात, पांच, चार, तीन, दो, एक,

अथवा आधे श्लोकका भी निरंतर पठन करे तो अयुतायुतवर्ष अर्थात् दशकोटिवर्ष (१०,००,००,०००) चंद्र लोकमें वास करता है ॥ ५९ ॥

गीतार्थमेककालेऽपि श्लोकमध्यायमेव च ।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहे प्रयाति परमं पदम् ॥६०॥

जो एककाल भी गीताके एक श्लोकका अथवा अध्यायका अर्थ स्मरणकरताहुआ देहको त्यागे तो मोक्षको प्राप्त होताहै॥६०॥

गीतार्थं वापि पाठं वा शृणुयादन्तकालतः ।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥६१॥

जो अंतकालके समयमें गीताका अर्थ अथवा पाठ सुनता हुआ देहत्याग करता है वह महापातकी हो तो भी मुक्त हो जाता है ६१॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः ।
स वैकुण्ठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ६२ ॥

जो गीताके पुस्तकयुक्त प्राणोंको त्यागे सो विष्णुलोकको प्राप्त होके विष्णुके समीप आनंद करता है ॥ ६२ ॥

गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम्॥६३॥

जो मरण समयमें गीता पुस्तकका एक अध्याय भी समीप हो तो वह फिर मनुष्य जन्म पाकर गीताभ्यास करके मुक्त होजाता है६३

गीतोच्चारणसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ।
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठं प्रकीर्त्तयेत् ॥
तत्तत्कर्म च निर्दोषं कृत्वा पूर्णमवाप्नुयात् ॥६४॥

मरते समय भी जो गीता ऐसा उच्चारण करके मरे तो भी मुक्त हो जाता है और जो जो कर्म करे उस उसमें गीता पाठ करै तो निर्दोष कर्मका संपूर्ण फल प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति वै।
संतुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यान्ति सद्गतिम् ॥६५॥

जो श्राद्धमें पितरोंके निमित्त गीताका पाठ करे तो वे पितर संतुष्ट होते हुए नरकसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

गीतापाठेन संतुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥ ६६ ॥

श्राद्ध एवं गीतापाठसे प्रसन्न होकर पितृगण पुत्रको आशीर्वाद देते हुए पितृलोकको जाते हैं ॥ ६६ ॥

लिखित्वा धारयेत्कण्ठे बाहुदण्डे च मस्तके।
नश्यन्त्युपद्रवाः सर्वे विघ्नरूपाश्च दारुणाः ॥ ६७ ॥

गीताको लिखकर गलेमें, भुजापर अथवा मस्तकमें धारण करे तो उसके विघ्नरूप दारुण उपद्रव नष्ट हो जाते हैं ॥ ६७ ॥

गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम्।
दत्त्वा तत्सद्द्विजे सम्यक्कृतार्थो जायते जनः॥६८॥

गोदान देते समय गौकी पूँछसहित हाथमें गीताका पुस्तक लेकर जिसने श्रेष्ठ ब्राह्मणको दान दिया वह सब कर चुका॥६८॥

पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः शुद्धमानसः।
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवे ॥ ६९ ॥

यदि सुवर्णसंयुक्त गीतापुस्तकका दान शुद्धमनसे विद्वान् ब्राह्मणको दे तो फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ६९ ॥

शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः।
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥ ७० ॥

जो गीताके सौ पुस्तकोंका दान करे तो जिस लोकसे फिर यहाँ नहीं जन्मता है उस वैकुण्ठको जाता है ॥ ७० ॥

गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पावधीः समाः ।
विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ७१ ॥

गीतादानके प्रभावसे विष्णुलोकमें सात कल्पपर्यंत विष्णुके साथ रहके आनंद करता है ॥ ७१ ॥

सम्यक् श्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ।
तस्मै प्रीतोऽस्मिभगवान्ददामि मनसेप्सितम्॥७२॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो गीताका अर्थ सुनकर पुस्तकका दान करता है उसको मनोवांछित फल देता हूँ॥ ७२ ॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत ।
न शृणोति पठत्येव गीताममृतरूपिणीम् ॥ ७३ ॥
हस्तात्त्यक्त्वाऽमृतं प्राप्तं कष्टात्क्ष्वेडं समश्नुते ।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा मोक्षं सुखी भवेत्७४

जो मनुष्य देह पाकर इस अमृतरूपिणी गीताको न पढ़ता और न सुनता है वह मानो हाथमें आये हुए अमृतको त्यागके विषको कष्टसे पीता है; क्योंकि इस गीतारूप अमृतका पान करके मोक्षको प्राप्त होके सुखी होता है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

जनैः संसारदुःखार्त्तैर्गीताज्ञानं च यैः श्रुतम् ।
संप्राप्तममृतं तैश्च गतास्ते सदनं हरेः ॥ ७५ ॥

संसारदुःखकरके पीड़ित जिन मनुष्योंने इस गीताके ज्ञानका सुना वे अमृत होकर विष्णुलोकको प्राप्त होते हैं ॥ ७५ ॥

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥ ७६ ॥

इस गीताका आश्रय करके बहुतसे जनकादिक राजा पापरहित होकर परमपदको प्राप्त हुए हैं ॥ ७६ ॥

गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७७ ॥

गीतामें नीच ऊंचका विशेष नहीं, आत्मा सबमें समान है; इससे यह ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७७ ॥

योऽभ्यसूयति गीतां च निन्दां वा प्रकरोति च ।
प्राप्नोति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ७८ ॥

जो गीताकी ईर्षा और निंदा करता है वह प्रलयपर्यंत नरकमें रहता है ॥ ७८ ॥

अहंकारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ।
कुम्भीपाके स पच्येत यावत्कल्पलयो भवेत्॥७९॥

जो अहंकारसे गीताके अर्थको नहीं मानता है वह प्रलयकालपर्यंत कुम्भीपाक नरकमें पचता है ॥ ७९ ॥

गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ।
श्वसूकरभवां योनिमनेकां सोऽधिगच्छति ॥ ८० ॥

जो बांचते हुए गीतापाठको समीप जाकर नहीं सुनता है वह कुत्ता और सूकरकी योनियोंमें बारंबार जन्म पाता है ॥८०॥

चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ।
न तस्य स्यात्फलं किंचित्पठने च वृथा भवेत् ॥८१॥

जो गीताकी पुस्तक चोरीसे लाकर उसपर पाठ करे तो उसको पाठका फल किंचिन्मात्र भी नहीं मिलता, किन्तु वृथा परिश्रम होता है ॥ ८१ ॥

यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमादरात्
नैवाप्नोति फलं लोके प्रमादाच्च वृथा श्रमम् ॥८२॥

जो गीताके अर्थको सुनके अति आदरसे आनंदित नहीं होता उसको संसारमें (कुछ भी) फल नहीं मिलता, किन्तु प्रमादसे उसका परिश्रम वृथा होता है ॥ ८२ ॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च पट्टाम्बरप्रवेष्टनम् ।
निवेदयेच्च तद्वेष्टच प्रीतये परमात्मनः ॥ ८३ ॥

गीताको सुनके सुवर्ण और पुस्तक लपेटनेका रेशमी वस्त्र उसपर लपेटकर परमात्माकी प्रीतिकेवास्ते बाँचनेवालेको देनाचाहिये ८३

वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः
अन्नैर्बहुविधैः प्रीत्या तुष्यतां भगवानिति ॥ ८४ ॥

जिससे भगवान् प्रसन्न हो जायँ, इस बुद्धिसे द्रव्य, वस्त्र, आभूषणादिकोंकरके वक्ताका पूजनकरके नानाप्रकारके अन्न देनाचाहिये ८४

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते पठते यस्तु यथोक्तं फलमाप्नुयात् ॥८५॥

यह श्रीकृष्णका कहा हुआ सनातनगीताका माहात्म्य है इसको गीतापाठ करके अंतमें पढ़े तो यथोक्त फल प्राप्त होता है ॥८५॥

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव हि केवलम् ॥ ८६ ॥

गीता पाठ करके माहात्म्यको न बाँचे तो उसके पाठ करनेका श्रम वृथा ही है अर्थात् पाठका फल नहीं पाता है ॥८६॥

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः शृणोत्येव दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ॥८७॥

जो इस माहात्म्यके संयुक्त गीतापाठ करेगा अथवा सुनेगा वह दुर्लभ मोक्षपदको पावेगा ॥ ८७ ॥

श्रुत्वा पठित्वा गीतां च माहात्म्यं यः शृणोति वै ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेद्धि मनसेप्सितम् ॥८८॥

इति श्रीमद्वाराहपुराणे सूतशौनकसंवादे श्रीकृष्णप्रोक्तं
श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं संपूर्णम् ॥

जो गीताको सुनकर और पढ़कर माहात्म्यको पढ़ते सुनते हैं वे मनइच्छित फलको पाते हैं ॥ ८८ ॥

इति श्रीमत्शुक्लसीतारामात्मजपण्डितरघुनाथप्रसादविरचिता श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यचन्द्रिकाव्याख्या समाप्तिमगात् ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

सान्वय-अमृततरंगिणीभाषाटीकासहिता ।

श्रीजयति ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

प्रणम्य परमात्मानं कृष्णं रामानुजं गुरुम् ।
गीताव्याख्यामहं कुर्वे गीतामृततरंगिणीम् ॥

जब श्रीकुरुक्षेत्रमें दुर्योधनादिक धृतराष्ट्रके पुत्र और युधिष्ठिरआदिक पांडुके पुत्र अपनी अपनी सेनाओंको लेकर युद्ध करनेके लिये तैयार हुए तब हस्तिनापुरमें धृतराष्ट्र संजयसे पूछने लगे हे संजय ! धर्मस्थल कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छावाले इकट्ठे हुए मेरे पुत्र और पांडुके पुत्र (युधिष्ठिरादिक) निश्चयकरके क्या करते हुए (सो कहो) ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

ऐसे धृतराष्ट्रके वाक्य सुनकर संजय कहने लगे कि हे राजन् ! राजा दुर्योधने व्यूहरचनायुक्त पांडवोंकी सेनाको देखकर तब द्रोणाचार्यके समीप जाकर वचन बोलते हुए ॥ २ ॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! जो तुम्हारा शिष्य बुद्धिमान् ऐसा द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न उसकरके यथायोग्यस्थानोंपर स्थापित पांडुपुत्रोंकी इस सर्वोत्तम सेनांको आप देखो ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

इस सेनामें जो युद्धकरनेमें भीम अर्जुनके समान बड़े धनुषधारी शूर हैं वे ये कि; युयुधान और विराट और महारथ द्रुपद ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु चेकितान और बली काशीका राजा तथा पुरुजित और कुंतिभोज और नरोंमें श्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

पराक्रमी और उत्तमशक्तिवाला और वीर्यवान् युधामन्यु, सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु और सर्व द्रौपदीके पुत्र अर्थात प्रतिविन्ध्यादि पांच ये महारथ ही हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

अब हे द्विजोत्तम ! जो हमारेमें हमारी सेनाके श्रेष्ठ सेनापति हैं उनको जाननेके वास्ते तुम्हारेसे कहता हूँ उन्हें जानो ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

जो हमारी सेनामें मुख्य हैं उनमें एक आप हो और भीष्म और कर्ण और संग्रामके जीतनेवाले कृपाचार्य अश्वत्थामा और विकर्ण और वैसा ही राजा सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

मेरे वास्ते त्यागा है जीवन जिनने और नानाशस्त्रके प्रहार करनेवाले और भी बहुत शूर सर्व युद्धचतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

हमारी सेना भीष्मकरके रक्षित है इससे असमर्थ है और इनकी यह सेना भीमकरके रक्षित है इससे बलिष्ठ है तात्पर्य यह कि, भीष्म उभयपक्षपाती है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

इससे सर्व नाकेपर यथायोग्य भाग बनाये भये खड़े रहके तुम सब ही निश्चयकरके भीष्मका ही संरक्षण करो ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

ऐसे सुनके बड़े प्रतापवान् कौरवनमें वृद्ध पितामह भीष्म उस दुर्योधनको हर्ष उत्पन्न करते करते ऊंचे स्वरसे सिंहनादसे गर्ज कर शंखको बजाते भये ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

तब शंख और भेरी और तासे नगारे रणसिंहे एक संग ही बजते भये सो शब्द मिश्रित भारी होता भया ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

तब जिसमें श्वेत घोड़े जोड़े हैं ऐसे श्रेष्ठ रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन दिव्य शंखोंको बजाते हुए ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णने पांचजन्यको, अर्जुनने देवदत्तको, भयंकर है कर्म जिसका ऐसा वृकोदर अर्थात् तीक्ष्णाग्नि उदरवाला भीम पौंड्र-नाम महाशंखको बजाते हुए ॥ १५ ॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुंतीका पुत्र राजा युधिष्ठिर अनंतविजय शंखको, नकुल और सहदेव सुघोष और मणिपुष्पक शंखोंको क्रमसे बजाते हुए अर्थात नकुल सुघोषको और सहदेवने मणिपुष्पकको बजाया ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

श्रेष्ठ धनुषवाला काशीका राजा और महारथ शिखंडी, धृष्टद्युम्न और विराट और शत्रुओंकरके अजित सात्यकी यादव ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

हे पृथ्वीनाथ ! राजा द्रुपद और सर्व द्रौपदीके पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु ये न्यारे न्यारे शंख बजाते हुए ॥ १८ ॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

सो मिश्रित बड़ा ऐसा शब्द आकाश और पृथिवीको शब्दायमान करता करता धृतराष्ट्रके पुत्रोंके हृदयोंको विदीर्ण करता हुआ ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे महीपते! तब शस्त्रपातप्रवृत्तसमयमें कपिध्वज पांडव अर्जुन तुम्हारे पुत्रोंको युद्धार्थ खड़े देखके तब धनुषको ऊंचा करके श्रीकृष्णसे ये वाक्य बोले कि हे अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरे रथको स्थापित करो ॥ २० ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

मैं प्रथम इन युद्धकी इच्छावाले खड़े हुओंको देखूंगा कि इस रणखेतमें मुझको किनके साथ युद्ध करना योग्य है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

जो ये जितने दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रपुत्रके युद्धमें प्रियकी इच्छावाले यहां इकट्ठे हुए हैं इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूंगा ॥ २३ ॥

संजय उवाच।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि हे भारत! अर्जुनकरके ऐसे कहे भये श्रीकृष्ण दोनों सेनाओंके बीचमें श्रेष्ठ रथको स्थापित करके भीष्म

और द्रोणाचार्यके सामने और सर्व राजाओंके सामने बोले कि हे पार्थ! ये इकट्ठे हुए जो कुरुवंशी हैं इनको देखो २४ ॥२५॥

तत्राऽपश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥
तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान् बंधूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्णजीके कहनेपर अर्जुनने उस रणमें खड़े हुए पितृ (पितासदृश भूरिवादिक काका) पितामह (भीष्म सोमदत्तादिक) आचार्य (द्रोणाचार्यादिक) मामा (शकुनि शल्यादिक) भ्राता (दुर्योधनादिक) पुत्र (द्रौपदीमें पांचोंसे भये जो पांच) पौत्र (लक्ष्मणादिकोंके पुत्र) तथा सखा (अश्वत्थामा जयद्रथादिक) ससुर (द्रुपदादिक) और सुहृद (कृतवर्मादिक) इनको देखते भये ऐसे दोनों सेनाओंमें भी उन सर्व बंधुनको खड़े देखके वह कुंतीपुत्र अर्जुन अति कृपाकरके व्याप्त खेदित होते होते यह बोलते हुए ॥ २६ ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २८ ॥ २९॥

अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण ! युद्धकी इच्छावाले खड़े हुए इन स्वजनोंको देखके मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं और मुख सूखता जाता है और मेरे शरीरमें कंप और रोमांच होते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

हाथसे गांडीवधनुष गिरा जाता है और त्वचा भी जरी जाती है और खड़े होनेको भी नहीं सकता हूं और मेरा मन भ्रमता सरीखा है ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

और हे केशव! निमित्त भी विपरीत देखता हूं और संग्राममें स्वजनोंको मारके फिर कल्याण भी नहीं देखता हूं ॥ ३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण! विजय और राज्य और सुख नहीं चाहता हूं हे गोविंद! हमको राज्यकरके भोगकरके अथवा जीवनेकरके भी क्या प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥३३॥

हमने जिनके वास्ते भोग, सुख और राज्य चाहा था वे भी प्राण और धनोंको त्यागके युद्धमें खड़े हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा॥३४

ये सर्व मेरे आचार्य,पितातुल्य काका,पुत्र और वैसे ही पितामह, मामा, ससुर,नाती पोता,सांले तथा और संबंधी हैं ॥३४॥

एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते॥३५॥

हे मधुसूदन ! तीनों लोकोंके राज्यके वास्ते भी मुझको य मारेंते हों तो भी इनको मारनेकी नहीं इच्छा करता हूँ तो पृथिवीके वास्ते क्यों मारूंगा ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारके हमको क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियोंको मारकर हमको पाप ही लगेगा ॥ आततायीलक्षण-"दोहा-अग्नि देइ विष देइ जो, क्षेत्रदारहर जोइ॥ धनहर सम्मुख शस्त्र कर, आततायि षट् होइ "॥ १ ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

जिससे कि इनके मारनेका पाप ही होगा इससे हमारे बन्धु धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके वास्ते हम नहीं योग्य हैं, हे माधव ! निश्चयपूर्वक स्वजनोंको मारके कैसे सुखी होंगे ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

हे जनार्दन ! लोभकरके जिनके चित्त भ्रष्ट हो गये हैं ऐसे ये दुर्योधनादिक कुलक्षय करनेके दोषको और मित्रद्रोहमें पापको यद्यपि नहीं देखते हैं (नहीं जानते हैं) तो भी कुलक्षयकृत दोषको देखते हुए हम करके इस पापसे निवृत्त होनेके वास्ते कैसे न जानना चाहिये ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलके क्षय होनेसे सनातन कुलके धर्म नाश होते हैं, फिर धर्म नष्ट होनेसे सर्व कुलको अधर्म जीत लेता है अर्थात् कुलको अप्रतिष्ठित कर देता है ॥ ४० ॥

अधर्माऽभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! अधर्म करके कुलको अप्रतिष्ठित होनेसे कुलकी स्त्रीजन दुष्ट हो जायँगी हे वृष्णिवंशोद्भव ! उन दुष्ट स्त्रियोंमें वर्ण-संकर उत्पन्न होगा ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

जिससे कि जिनके पितृ पिंडोदकक्रिया प्राप्त हुए विना संसारमें पड़ते हैं इसीसे कुलघातियोंके कुलको वह वर्णसंकर नरक प्राप्तिके हेतु ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

जो कुलघाती हैं उनके जो ये वर्णसंकरकारक दोष हैं उन करके जाति धर्म और सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं उन मनुष्योंका नरकमें अवश्य वास होता है ऐसा सुनते हैं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो ! कष्ट हमैं बड़े पापको करनेको निश्चय किये हैं जो राज्य सुखलोभ करके स्वजनोंको मारनेका उद्योग किये हैं॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

जो हाथमें शस्त्र लिये हुए धृतराष्ट्रके पुत्र अशस्त्रको और अप्रतीकारको अर्थात् जो मैं बदला नहीं लेता हूँ ऐसे मेरेको रणमें मारेंगे सो मारना भी मेरा अतिकल्याणरूप हो जायगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं कि संग्राममें अर्जुन ऐसे कहके बाणसंयुक्त धनुष डालके शोकव्याकुलमन होते हुए रथके पिछाड़ी जाके रथमें बैठ गये ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्सुकुलखीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां गीतामृततरंगिण्यां प्रथमाध्यायप्रवाहः ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं कि जो प्रथम अध्यायमें करुणावाक्य कहे वैसी ही कृपा करके व्याप्त आंसुओंके भरनेसे

नेत्र व्याकुल विषादयुक्त उस अर्जुनसे मधुसूदन भगवान् यें वाक्य बोलेते हुए ॥ १ ॥

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

कि; हे अर्जुन ! जो अज्ञानियोंके सेवनेयोग्य नरकको ले जानेवाला और अपकीर्ति करनेवाला यह मोह है वह तुमको ऐसे विषमस्थलमें कैसे प्राप्त हो गया ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पृथाके पुत्र ! तुम कायरताको न ग्रहण करो तुममें यह नहीं योग्य है, हे परंतप ! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताकारक कायरताको छोडके खड़े हो जाओ ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

ऐसे कृष्णके वाक्य सुन अर्जुन बोले कि हे मधुसूदन ! मैं संग्राममें भीष्म और द्रोणाचार्यसे बाणोंकरके कैसे युद्ध करूंगा? हे अरिसूदन ! ये दोनों पूजनेयोग्य हैं। यहां मधुसूदन कहनेका तात्पर्य यह है कि आप दैत्यहंता हो तो सज्जनोंसे क्यों युद्ध कराते हो। अरिसूदन कहनेका तात्पर्य यह कि जो शत्रुनाशक हो तो भीष्मादिक पूज्योंपर बाणप्रहार क्यों कराते हो? ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके । हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

इस लोकमें अति उत्तम प्रभाववाले गुरुओंको मारे विना भिक्षाका अन्न भी खानेको कल्याण ही जानना और अर्थ याने द्रव्यकी है कामना जिनके ऐसे गुरुओंको मारके रक्तसे भरेहुए भोगोंको भोगूंगा ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥ यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

यह भी नहीं जानते हैं कि हमें कौन बली है न जाने हम जीतेंगे किंवा वे हमको जीतें, जिनको मारके हम जीना नहीं चाहते हैं वे धृतराष्ट्रके पुत्र सम्मुख ही खड़े हैं ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ॥ यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कार्पण्य यह कि हम इनको मारके कैसे जियेंगे तथा दोष जो कुलक्षयका दोष इन कार्पण्य और कुलक्षयदोषों करके मेरा क्षत्रिय स्वभाव विध्वंसित हो गया है इसीसे धर्ममें भी मेरा चित्त चकित हो रहा है जैसे कि क्षत्रियधर्म युद्ध अथवा भिक्षान्नभोजन इनमें कौन कल्याणकारक है यह विचार कर चित्त चकित है ऐसो मैं तुम्हारा शिष्य तुमको पूछता हूँ जो मेरे वास्ते निश्चय कल्याणदायक हो वही कहो तुम्हारे शरणागत मुझको सिखाओ ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ॥ अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अरेरेरेरे! बड़ा अनर्थ है कि जो पृथ्वीमें शत्रुरहित संपदायुक्त राज्यको और देवताओंके भी अधिपतित्वको पाकर मेरी इंद्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर करे उसको मैं नहीं देखता हूं॥८॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहने लगे कि शत्रुओंको संतापित करनेवाला तथा गुडाका जो निद्रा उसके जीतनेमें समर्थ ऐसा जो अर्जुन हृषीकेश याने इंद्रियोंके मालिक श्रीकृष्णको ऐसें कहके फिर नहीं युद्ध करूंगा ऐसें गोविंदसे कहके मौन हो गये॥ ९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः॥ १०॥

हे भरतवंश उत्पन्न धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओंके मध्यमें युद्धके उत्साहको त्यागके शोक कर रहा जो अर्जुन उससे हँसतेसरीखे श्रीकृष्णजी यह याने जो आगे कहेंगे सो वचन बोलते हुए॥१०॥

श्रीभगवानुवाच।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंतिपण्डिताः॥ ११॥

श्रीकृष्ण भगवानने निश्चय किया कि इसको धर्माधर्मका ज्ञान नहीं है, इससे यह धर्मको तो अधर्म और अधर्मको धर्म मान रहा है, परंतु धर्मको जानना चाहता है सो मोह गये विना यह कैसे जानेगा? सो मोह आत्मदर्शन विना नष्ट होनेका नहीं, ज्ञान विना आत्मदर्शन होनेका नहीं, सो ज्ञान निष्काम कर्म विना हो-

नेका नहीं और अध्यात्मशास्त्र जो आत्म-अनात्म-विवेक उपदेश याने जीव और शरीरका विवेक उसका उपदेश इस विना निष्काम कर्म हो नहीं सकता, इससे अध्यात्मशास्त्रका ही उपदेश करो,ऐसा विचारके उपदेश करने लगे अब इस श्लोकसे लेकर अठारहवें अध्यायके छाँसठके श्लोकमें जो-"मा शुचः" ऐसा वाक्य है वहां पर्यंत गीताउपदेश है. यहां प्रथम भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! -"त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः" याने जो शोचनेयोग्य नहीं उनको शोचते हो और प्रज्ञावाद याने पंडितों सरीखीं जो बातें उनको भाषते याने कहते हो वे ऐसे कि, हमारे पितरोंके श्राद्ध और तर्पण न होनेसे वे स्वर्गसे नरकमें पड़ेंगे सो स्वर्गप्राप्ति और पड़ना श्राद्धादिक होने न होनेके स्वाधीन नहीं है; वे तो आपके करे पुण्यपापके स्वाधीन हैं"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशंति" इस प्रमाणसे वे पुण्य पाप सदेह आत्माके स्वाधीन हैं,केवल देहके स्वाधीन नहीं हैं। यद्यपि पुत्रादिकोंके किये हुए श्राद्धादिकोंका पुण्य प्राप्त होता है; कारण कि पुत्रादिक सदेह आत्मसंबंधी है;तथापि श्राद्ध न होनेसे स्वर्गसे पड़ना यह किसी कालमें भी होनेका नहीं;इस वास्ते 'गतासु' जो वे शरीर नित्य नाशधर्मी और 'अगतासु' जो जीव नित्य अमर एक रसहैं इससे "नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः"इस प्रमाणसे पंडितजन इनका शोच नहीं करते हैं; इससे तुमको भी शोचना अयोग्य है. "स्वेस्वे कर्मण्यभिरतः सिद्धिं विंदति मानवः" इस प्रमाणसे स्वधर्म युद्ध ही कल्याणकारक है ॥ ११ ॥

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं "नेमे" जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो आत्मा याने जीवात्मा

परमात्मा हैं उनके स्वभाव सुनोः-"अहं सर्वेश्वर इतः पूर्वमनादौ काले जातु नासमपि त्वासमेव" अर्थात् मैं सर्वेश्वर इस समयसे प्रथम अनादिकालमें क्या न था? क्योंकि, निश्चयकरके था "त्वं नासीः अपि तु आसीः एव" जैसा मैं था ऐसा क्या तू न था? तू भी था। "इमे जनाधिपाः किं न आसन् अपि त्वासन् एव" ये सब राजा क्या न थे? अर्थात् ये भी थे। "अतः परं सर्वे वयं किं न भविष्यामः अपि तु भविष्याम एव" इस कालसे अगाड़ी क्या हम तुम ये सर्व न होंगे? अर्थात् होंगे ही इससे आत्मा नित्य है अतः शोच करना वृथा है तथा जो यहां हम, तुम और ये ऐसा कहा इससे यह सिद्धांत हुआ कि, जीवात्मा और परमात्मा न्यारे न्यारे हैं यह न्यारापना ही सत्य है. इसीसे श्रीकृष्णजीने भी उपदेश किया, क्योंकि अज्ञानमोहित अर्जुनको मिथ्या उपदेश करनेके ही नहीं, इस न्यारेपनमें श्रुति भी प्रमाण है, जैसे-"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेकों बहूनां यो विदधाति कामानिति"। अर्थ-जो एक नित्य चेतन परमात्मा है सो बहुत नित्य चेतन जीवोंकी कामनाको परिपूर्ण करता है। जो कोई कहे कि यह भेद अज्ञानकृत है तो उससे कहना कि यह परमार्थदृष्टिके अधिष्ठाता और आत्मयाथात्म्यसे सदा अज्ञानरहित नित्यस्वरूप परमपुरुष श्रीकृष्णमें अज्ञानकृत भेददर्शन कार्य होनेका नहीं तो भी कोई कृष्णको अज्ञ कहे तो उनकरके उपदिष्ट गीता अप्रमाण होती है। जो कोई कहे कि श्रीकृष्णने अभेद निश्चय किया है इससे वह भेद निराकृत है सो जले हुए वस्त्रके तुल्य बंधनकारक नहीं है? तब कहना कि मृगतृष्णा निराकृत जानके फिर उसमें जल लेने न जायगा, जो गया तो वह अज्ञ है इसी तरह जो मिथ्या भेदका इसमें उपदेश दिया तो इस गीताका भी प्रमाण न मानना चाहिये।

दूसरा यह कि भेद विना उपदेश भी नहीं बनेगा तथा परमात्मामें ऐसा भी होनेका नहीं कि प्रथम अज्ञ थे शास्त्राध्ययनसे ज्ञानी हुए, क्योंकि जिसको शास्त्राभ्याससे ज्ञान होता है उसको किसी समयमें अज्ञान भी होता है, सो नित्यज्ञानस्वरूप श्रीकृष्णमें यह भी नहीं हो सकता है। यहां श्रुति प्रमाण है जैसे-'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" तथा यहां भी कहेंगे-"वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन" इत्यादि प्रमाणोंसे भेद ही सिद्ध होता है, और भेद विना उपदेश किसको करे? यहां कोई कहते हैं कि, अर्जुन कृष्णका प्रतिबिंब है, आपको आप ही उपदेश करते हैं? इसपर कहना कि दर्पण जल इत्यादिमें अपने प्रतिबिंबको देखकर जो बातें करे वह उन्मत्त याने चित्तभ्रष्ट सिरी होता है, उसके वाक्य भी अप्रमाणित हैं, जिसको अभेदज्ञान है उसको उपदेश करनेका ही नहीं; न उसके गुरु हैं, न शिष्य हैं इससे यही सिद्ध हुआ कि परमात्मासे जीव न्यारे हैं॥ १२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

जैसे इस देहमें जीवकी कुमार अवस्था यौवन और जराअवस्था होती हैं वैसे देहांतरकी प्राप्ति भी होती है, परन्तु उसमें धीर याने ज्ञानी पुरुष नहीं मोहता है॥ १३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

हे कुंतीपुत्र! मात्रा जो इंद्रियां, उनके स्पर्श जो शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये शीत उष्ण याने मृदु कठोर शब्द शीतोष्ण

शस्त्रप्रहारादिक और संयोगवियोगादिक दुःखके देनेवाले अनि-त्य और आगमापायी याने होते जाते रहते हैं, हे भारत! तुम भरतवंशी हो उनको सहन करो ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषर्षभ! सुख और दुःख है सम जिसके ऐसे जिस ज्ञानी पुरुषको ये निश्चयकरके नहीं पीडा करते हैं सो मोक्ष जानेको समर्थ होता है ॥ १५ ॥

नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो "गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः" इस वाक्यकरके आत्माका स्वाभाविक नित्यत्व और देहका नाशित्व समझके शोक न करना कहा उसीको अब 'नासतः' इत्यादिकरके खुला-सा दृढता करके कहते हैं कि असत् जो नाशवान् है उसकी स्थिरता नहीं होती है और सत् जो अविनाशी है उसका नाश नहीं होता, तत्त्वदर्शी पुरुषोंने इन दोनोंका भी सिद्धांत देखा है सोई आगे दो श्लोकोंमें खुलासा कहेंगे ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

जिस आत्मतत्त्वकरके यह सर्व अचेतन तत्त्व व्याप्त है उसे-को तो अविनाशी जानो! इस अविनाशीका विनाश करनेको कोई नहीं समर्थ है ॥ १७ ॥

अंतवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

जो यह जीव अविनाशी है तथा अप्रमेय है याने यह इतना ही है ऐसा कहनेमें नहीं आता है तथा नित्य है याने सर्वदा एकसा है ऐसे जीवके ये देह नाशवंत कहे हैं हे अर्जुन! इससे युद्ध करो ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला जानता है और जो इसको अन्यकरके मरा मानता है वे दोनों नहीं जानते हैं, क्योंकि यह न किसीको मारता है न किसी करके मरता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ॥ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी जन्मता और मरता नहीं यह अजन्मा है नित्य सर्वकालमें पुराण याने जो पहिले था वही है, न भया है और फिर होनेवाला भी नहीं है, शरीरके मारनेपर भी नहीं मरता है ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥ २१ ॥

जो इस आत्माको अजन्मा अक्षय नित्य अविनाशी जानता है तो हे अर्जुन! सो वह पुरुष कैसे किसको मरवावता है और कैसे किसको मारता है ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

यद्यपि शरीर नष्ट होनेसे आत्माका नाश नहीं तो भी शरीर-वियोगका जो दुःख होताहै ऐसा अर्जुनका आशय जानके भगवान्

कहने लगे कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागके और नवी-
नोंको ग्रहण करता है तैसे जीव पुराने शरीरोंको त्यागके और
नवीन शरीरोंको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

सर्व शस्त्र भी इस आत्माको नहीं छेदि (काटि) सकते हैं
अग्नि इसको नहीं जलाता है जल इसको नहीं भिगो सकता है
और पवन भी नहीं सुखा सकता है ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यह आत्मा छेदने योग्य नहीं, यह जलाने योग्य नहीं और
निश्चित भिजाने सुखाने योग्य भी नहीं है यह नित्य सब प्रकारके
शरीरोंमें जानेवाला स्थिरस्वभाव अचल और सनातन है ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

यह अतिसूक्ष्मतासे अप्रगट है यह विचारमें नहीं आता है यह
विकाररहित कहा है तिससे इसको ऐसा जानके शोच करनेको
नहीं योग्य है।जो कि इसको नित्यजन्मा अथवा नित्य मरा जा-
नोगे तो भी हे महाभुज अर्जुन ! तुम इस आत्माको शोचनेको
नहीं योग्य हो ॥ २५ ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७

जिससे कि जन्मेकी मृत्यु निश्चय है और मरेका जन्म निश्चय है तिससे इस निरुपाय परिणाममें तुम शोचनेको नहीं योग्य हो २७

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! मनुष्यादिक भूतप्राणी जन्मके आदिमें प्रगट न थे, जन्मके पीछे मरणके आदि मध्य अवस्थामें प्रकट दीखता है, मरे पीछे भी न दीखेंगे ऐसे निश्चयसे इस विषयमें शोक क्यों है॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

ऐसे देहात्मवादमें शोकका परिहार किया । अब कहते हैं कि देहसे न्यारे आत्मामें द्रष्टा, श्रोता, वक्ता और ज्ञाता भी दुर्लभ हैं । प्रथम कहे हुए लक्षणोंकरके युक्त आत्मा सर्वसे विलक्षण है यहां कोई तपस्वी पुण्यवान् इस आत्माको आश्चर्यवत् देखता है और ऐसा ही कोई आश्चर्यवत् कहता है और ऐसा ही और पुरुष इसको आश्चर्यतुल्य सुनता है और कोई पुरुष इस आत्मा-को ही सुनके भी नहीं जानता है ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन ! सर्वकी देहमें यह जीव नित्य ही अवध्य है इससे तुम सर्व भूतोंको सोचनेको नहीं योग्य हो ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ३१॥

स्वधर्मको भी देखके दया करनेको नहीं योग्य हो, क्योंकि क्षत्रियको धर्मसंबंधी युद्धसे और कल्याण नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो आपसे प्राप्त हुआ और खुला हुआ स्वर्गका द्वार ऐसे युद्धको पुण्यवान् क्षत्रियलोग पाते हैं ॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

जो कदाचित् तुम इस धर्मरूप संग्रामको न करोगे तो उससे स्वधर्म और कीर्तिको भी छोडके पापको प्राप्त होवोगे । और जो लोग तुम्हारी अखंड अकीर्तिको भी कहेंगे सो अकीर्ति संभावित पुरुषको मरणसे अधिक है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ।
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

श्रीकृष्णजीने अर्जुनका अभिप्राय जाना कि जो मैं बंधुओंके स्नेह और दयालुतासे युद्ध न करूंगा तो मेरी अकीर्ति कैसे होगी अर्थात् होनेकी नहीं ऐसा जानके बोले कि हे अर्जुन ! जिन कर्ण दुर्योधनादिक महारथोंके तुम शूर शत्रु ऐसे मान्य थे उनके ही अब युद्ध न करनेसे निंदायोग्य लघुताको प्राप्त होगे, वे ही महारथ शत्रु तुमको भयसे संग्राम न किया ऐसा मानेंगे, वे ही तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्यकी निंदा करते हुए बहुतसे दुर्वाक्य बोलेंगे, अर्थात् अर्जुन कायर है, शोभाके वास्ते शस्त्र बांधता है, जैसे स्त्री आभूष-

णमें सर्प सिंहादिक देखके प्यारसे धारण करे और साक्षात देखके प्राण लेके भागे ऐसे जब एसी निंदा करेंगे तब उससे बड़ा दुःख कौन है सो कहो ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

उस निंदाके सुननेसे रणमें मरना मारना ही श्रेष्ठ है ऐसा कहते हैं । हे कुंतीपुत्र ! जो रणमें शत्रुप्रहारसे मरोगे तो भी स्वर्गको प्राप्त होगे, जो जीतोगे तो पृथिवीको भोगोगे, इससे युद्धके अर्थ निश्चय करके उठो ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख और दुःखको समान करके तथा लाभ और हानि जय और पराजय समान जानकर फिर युद्धके अर्थ युक्त हो, ऐसा करनेसे पापको नहीं प्राप्त होगे ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥३९॥

श्रीकृष्णभगवान्ने ऐसा आत्मस्वरूप दिखाया, अब आत्मस्वरूप ज्ञानपूर्वक मोक्षसाधनभूत कर्मयोग कहते हैं कि हे पृथापुत्र ! यह बुद्धि तुमसे मैंने सांख्य जो आत्मा देहका विवक इसमें कही और इसीको योगमें यांने कर्मयोगमें सुनो जिस बुद्धिकरके युक्त कर्मबंध जो संसारदुःख उसको छोड़ोगे ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

अब ज्ञानयुक्त कर्मयोगका माहात्म्य कहते हैं:—इस ज्ञानयुक्त कर्मयोगमें अर्थात निष्काम कर्मयोगमें प्रारंभका भी

नाश नहीं है, याने प्रारंभ होके समाप्त नं हो तो भी नाश नहीं है, इसके छूटनेका दोष भी नहीं होता है, इस निष्काम कर्मका लव-लेशमात्र भी जन्ममरणरूप बड़े भयसे रक्षण करता है॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनंदन! व्यवसाय जो विष्णुपरमात्मा उनमें है आत्मा नाम मन जिनका ऐसे पुरुषोंकी बुद्धि इस निष्कामकर्ममें ही वह एक है एक मोक्षसाधनके ही वास्ते हैं, जो अव्यवसायी याने परमात्मा विना याने नाना पदार्थ पशु पुत्रादिकोंके चाहनेवाले हैं उनकी बुद्धि बहुत हैं अर्थात् अनेक कामनाओंमें लगी है और वहां भी बहु शाखा याने एक कार्यके वास्ते कर्म करके उसमें भी अनेक फल माँगते हैं जैसे पुत्रार्थ यज्ञमें धन धान्य आयुष्य आरोग्यका मांगना ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

हे पृथापुत्र! जो अज्ञानीजन वेदवादरत याने वेदोक्त कर्मसे स्वर्गादिक फल ही होता है ऐसे कहनेवाले, स्वर्गसुखके समान और सुख नहीं है ऐसा कहनेवाले कामनामें ही चित्त रखनेवाले स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले जिस पुष्पित याने कहने मात्रमें रमणीय जन्मकर्मरूप फलकी देनेवाली तथा जिसमें भोग और ऐश्वर्य निमित्त बहुत उपकरण याने कर्म साधन हैं जिसमें ऐसी इस वाणीको कहते हैं इसीसे उसी वाणीकरके अपहरण हुए हैं चित्त

जिनके इसीसे भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त हैं; उनके मनमें वह परमात्मविषयक बुद्धि नहीं प्रवृत्त होती है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ४५॥

हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्यविषयक हैं अर्थात् तीनों गुणोंके कर्मोंको ही कहते हैं, तुम निर्द्वंद्व याने सुख दुःख जय पराजय लाभ अलाभ इन द्वंद्वोंसे रहित हो अर्थात् उनसे उत्पन्न हर्ष शोक-रहित हो, नित्यसत्त्वस्थ हो याने सात्त्विक कर्म करो; निर्योगक्षेम याने कोईसा भी लाभ और लब्धका रक्षण ईश्वराधीन न जानो, आत्मवान् याने परमात्मामें चित्त रांखो, और निस्त्रैगुण्य हो अर्थात् कर्मफलोंका त्याग करो ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

जो कहो कि वेदोक्त कर्मोंसे तुम सात्त्विक करो उसीको खुलासा करके कहते हैं जैसे सर्वत्र जलसे भरे हुए तालाब इत्यादिक जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन होता है उतना ही लेता है वैसे ही वेदके जाननेवाले ब्राह्मणको सर्व वेदोंमें तावान् अर्थात् सात्त्विक कर्म ही योग्य है ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७॥

तुमको कर्ममें ही अधिकार है फलोंमें नहीं, कर्मोंके फलका कारण तुममें कोई समयमें भी मत हो । तुमको अकर्म याने स्वधर्म योग्य युद्धादि कर्मोंका न करना इसमें संग जो निष्ठा सो (कदाचित्) न हो ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ४८॥

हे अर्जुन! सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होके कर्मफलके संगको त्यागिके योगमें स्थित होते हुए कर्मोंको करो। सिद्धि और असिद्धिमें जो समत्व है वही योग कहा है, अर्थात् चित्तके समाधानत्वको योग कहते हैं। तात्पर्य यह कि चित्तको समाधान करके युद्धरूप स्ववर्णोचित कर्म करो ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन! बुद्धियोगसे और कर्म निश्चयकरके अत्यंत नीचे है, इसवास्ते बुद्धियोग जो निष्काम कर्म उसीमें ईश्वरप्राप्तिकी इच्छा करो, फलकी इच्छा करनेवाले कृपण हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ५०॥

बुद्धियुक्त (निष्कामकर्मी) इस लोकमें सुकृत (पुण्यकर्म) और दुष्कृत (पापकर्म) इन दोनोंको त्यागता है, इससे योगके अर्थ अर्थात् बुद्धियोग जो निष्काम कर्म उसके वास्ते युक्त हो, क्योंकि यह योग सर्व कर्मोंमें कुशलकारक है ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्यनामयम् ॥ ५१ ॥

जो बुद्धियोगयुक्त हैं वे ज्ञानी कर्मजन्य फलको त्यागके जन्मबंधनसे मुक्त होकर निश्चयकरके मोक्ष पदको जाते हैं॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप दुःखको उल्लंघन करेगी तब जो फलादिक सुननेयोग्य और जो सुने हों उनके विषयमें वैराग्यको प्राप्त होओगे ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जब तुम्हारी बुद्धि श्रुतिमें याने मेरे उपदेशमें विशेषकरके आसक्त निश्चल मनमें अचल ठहरेगी तब योगको पाओगे॥५३॥

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ५४॥

ऐसा सुनकर अर्जुन बोले—हे केशव! अर्थात् हे जलशायी भगवन्! स्थिरबुद्धि समाधिस्थकी कौनसी भाषा (उसका वाचक कौन है) अर्थात् वह स्थिरबुद्धि किससे कहता है, स्थिर-बुद्धि कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है॥५४॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अब श्रीकृष्णभगवान् स्थिर बुद्धिवालेका स्वरूप कहते हैं, यहां ऐसा न्याय है कि रहनिरीतिसे भी स्वरूपका निश्चय होता है इससे रहनिरीति कहते हैं कि हे अर्जुन! जब आपके मनकरके आप स्वरूपमें ही संतुष्ट होकर मनमें प्राप्त हुए सर्व मनोरथोंको सर्वथा त्यागता है तब वह स्थिरबुद्धि कहाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंमें जिसका मन व्याकुल नहीं होता है तथा सुखोंमें निराश होता है और जिसे (पुत्रादिकोंमें) स्नेह, भय और क्रोध न हो वह मुनि स्थिरबुद्धि कहाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५७ ॥

जो सर्वत्र स्नेहरहित होकर उसे उस शुभाशुभको पाकर भी न शुभसे प्रसन्न हो व अशुभसे दुःखी हो तब वह स्थिरबुद्धि कहाता है ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

जब यह, कछुवा जैसे अपने सर्व अंगोंको समेट लेता है वैसे इंद्रियोंके विषयोंसे अपनी सर्व इंद्रियोंको खैंच लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ ५९ ॥

जो आहाररहित प्राणी इंद्रियविषयोंको नहीं सेवता उसके विषयानुराग निवृत्त हो जाते हैं परन्तु अभिलाषा नहीं निवृत्त होती और ज्ञानीकी वह विषयाभिलाषा भी आत्मस्वरूपको देखके निवृत्त होता है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

हे कुंतीपुत्र ! आत्मदर्शन विना विषयानुराग निवृत्त होता नहीं और उसकी निवृत्ति विना जो ज्ञानी पुरुष (बुद्धिकी स्थिरताके लिये) यत्न करता है तो भी ये प्रबल इंद्रियां हठपूर्वक मनको हर लेती हैं। इससे योगयुक्त होकर उन सर्व इंद्रियोंको नियमित (अपने वशमें) करके मेरे आश्रय रहे, क्योंकि जिसकी इंद्रियाँ वशमें हैं उसकी निश्चयकरके बुद्धि स्थिर रहती है ॥६०॥६१॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जब तुम्हारी बुद्धि श्रुतिमें याने मेरे उपदेशमें विशेषकरके आसक्त निश्चल मनमें अचल ठहरेगी तब योगको पाओगे॥५३॥

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ५४॥

ऐसा सुनकर अर्जुन बोले–हे केशव ! अर्थात् हे जलशायी भगवन् ! स्थिरबुद्धि समाधिस्थकी कौनसी भाषा (उसका वाचक कौन है) अर्थात् वह स्थिरबुद्धि किससे कहता है, स्थिरबुद्धि कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है॥५४॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अब श्रीकृष्णभगवान् स्थिर बुद्धिवालेका स्वरूप कहते हैं, यहां ऐसा न्याय है कि रहनिरीतिसे भी स्वरूपका निश्चय होता है इससे रहनिरीति कहते हैं कि हे अर्जुन ! जब आपके मनकरके आपे स्वरूपमें ही संतुष्ट होकर मनमें प्राप्त हुए सर्व मनोरथोंको सर्वथा त्यागता है तब वह स्थिरबुद्धि कहाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंमें जिसका मन व्याकुल नहीं होता है तथा सुखोंमें निराश होता है और जिसे (पुत्रादिकोंमें) स्नेह, भय और क्रोध न हो वह मुनि स्थिरबुद्धि कहाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५७॥

जो सर्वत्र स्नेहरहित होकर उस उस शुभाशुभको पाकर भी न शुभसे प्रसन्न हो व अशुभसे दुःखी हो तब वह स्थिरबुद्धि कहाता है॥ ५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

जब यह, कछुवा जैसे अपने सर्व अंगोंको समेट लेता है वैसे इंद्रियोंके विषयोंसे अपनी सर्व इंद्रियोंको खैंच लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है॥ ५८॥

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥ ५९॥

जो आहाररहित प्राणी इंद्रियविषयोंको नहीं सेवता उसके विषयानुराग निवृत्त हो जाते हैं परन्तु अभिलाषा नहीं निवृत्त होती और ज्ञानीकी वह विषयाभिलाषा भी आत्मस्वरूपको देखके निवृत्त होता है॥ ५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः॥ ६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

हे कुंतीपुत्र! आत्मदर्शन विना विषयानुराग निवृत्त होता नहीं और उसकी निवृत्ति विना जो ज्ञानी पुरुष (बुद्धिकी स्थिरताके लिये) यत्न करता है तो भी ये प्रबल इंद्रियां हठपूर्वक मनको हर लेती हैं। इससे योगयुक्त होकर उन सर्व इंद्रियोंको नियमित (अपने वशमें) करके मेरे आश्रय रहे, क्योंकि जिसकी इंद्रियाँ वशमें हैं उसकी निश्चयकरके बुद्धि स्थिर रहती है॥६०॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

बाह्य इंद्रियनकी प्रबलता और उनको वश न करनेमें जो दोष सो कहा अब मनसंबंधी कहते हैं, जो पुरुष मन वश किये विना जितन्द्रियता चाहता है, सो होनेकी नहीं जैसे कि, जिसके मनमें विषयोंका चिन्तवन है उस पुरुषको उन विषयोंमें संयम करते करते भी आसक्ति होगी उस आसक्तिसे अभिलाषा होगी अभिलाषासे क्रोध होगा क्रोधसे मतिभ्रम होता है मतिभ्रमसे स्मरणशक्तिमें विभ्रम होता है स्मृतिविभ्रमसे ज्ञानका नाश ज्ञानके नाशसे स्वरूपसे नष्ट होता है याने संसारमें भ्रमता है॥ ६२॥ ६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

वश्य है मन जिसका ऐसा पुरुष रागद्वेषकरके रहित और आत्माके वश्य ऐसी इंद्रियोंकरके विषयोंका सेवन करताहुआ प्रसन्नताको प्राप्त होता है याने निर्मलांतःकरण होता है,तब निर्मलचित्त होनेसे इसके सर्वदुःखोंका नाश होता है, उस प्रसन्न चित्तवालेकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होती है॥ ६४॥ ६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शांन्तिरशांतस्य कुतः सुखम्॥६६॥

अयुक्त जो समतारहित है उसकी बुद्धि नहीं स्थिर होती है और उस अयुक्तके भावना याने आस्तिकता सो भी नहीं होती है और जिसके भावना नहीं उसके शांति नहीं, जिसके शांति नहीं उसको कहाँसे सुख होगा ॥ ६६ ॥

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

जिससे कि, जो मन विषयमें प्रवृत्त इंद्रियोंको अनुहरता है सो इस पुरुषकी बुद्धिको वायु जलमें नावको ऐसे[13] हरता है[14]। इसीसे हे महाबाहो ! जिसकी सर्व इंद्रियाँ इंद्रियोंके विषयोंसे सर्वथा रोकी हुई हैं उसकी बुद्धि[23] प्रतिष्ठित है ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

सर्वभूत प्राणीमात्रोंकी जो रात्रि अर्थात् जिस विषयमें सर्व सोयेसे रहे हैं ऐसी जो परमात्मविषया बुद्धि उसमें इंद्रियें संयमी जागता है याने आत्मस्वरूपको देखता है, जिस शब्दादिविषय-रूप रात्रिमें सर्वभूत (प्राणी) जागते हैं सो ज्ञानी जनकी रात्रिरूप है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

जैसे[1] आप ही परिपूर्ण सर्वदा एकसे भरे हुए समुद्रमें जल बाहरसे भरता है वैसे[7] जिसको सर्व कामना प्राप्त होती हैं सो[12] शांतिको प्राप्त होता है, जो कामनाओंकी इच्छा करनेवाला है सो शांतिको नहीं पाता है ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सर्व अभिलाषोंको छोड़के इच्छारहित विचरता है सो ममतारहित और अहंकाररहित हुआ शांतिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्य-
योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! यह जो निष्कामकर्मरूप मैंने कही सो ब्रह्मप्राप्तिकारक स्थिति है इसको पाके नहीं मोहको पाता है। इसमें अंतकालमें भी स्थित होके ब्रह्मसदृश मुक्ति पावे अर्थात् जो सर्वकाल ऐसा ही रहे उसकी मुक्तिको संदेह क्या है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमत्कुक्कुलजीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां गीतामृततरंगिण्यां द्वितीयाध्यायप्रवाहः ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

ऐसे श्रीकृष्णके वाक्य सुनके अर्जुनने विचार किया कि भगवान्ने प्रथम मुझको 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि वाक्यों करके ज्ञानयोग उपदेश किया फिर 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु' इत्यादिकरके कर्मयोग उपदेश किया उसमें भी 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला' इत्यादिकरके निष्काम कर्मसे आत्मज्ञानकी

ही प्राप्ति कही इससे निश्चय होता है कि, कर्मयोगसे जो पीछे आत्मज्ञान कहा वही श्रेष्ठ है ऐसे विचारके अर्जुन भगवानसे कहने लगे कि, हे जनार्दन! यदि, कर्मयोगसे ज्ञानयोग ही तुमने श्रेष्ठ मानाँ हो तो हे केशव! घोरं कर्ममें मुझेको क्यों युक्त करते हो ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

ऐसे मिश्रित वाक्यकरके मेरी बुद्धिको मोहते हो जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊं सो एक निश्चयकरके कहो ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

ऐसे अर्जुनके वाक्य सुनके श्रीकृष्ण भगवान् बोलने लगे। हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें पूर्वकालमें मैंने दो प्रकारकी निष्ठा कही है सो सांख्यवालोंको ज्ञानयोगकरके और योगियोंको कर्मयोगकरके ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

शास्त्रोक्त कर्मोंके किये विना पुरुष निष्कर्मता जो सर्वेंद्रिय-विषयनिवृत्तिपूर्वक ज्ञाननिष्ठा उसको नहीं प्राप्त होता है और कर्मके न करनेसे भी सिद्धिको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

किसी कालमें क्षणभर भी कर्म किये विना कोई भी पुरुष निश्चय

करके नहीं रहता है क्योंकि सर्वसत्त्वादिप्रकृतिके गुणोंकरके परवश हो कर्म करना ही पड़ता है ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होनेके लिये कर्मेंद्रियोंको हठसे संयममें रखके इंद्रियविषयोंको मनसे स्मरण करता रहता है सो मूढमति मिथ्याचार करनेवाला याने वृथायोगी कहाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन जो इंद्रियोंको मनसे नियममें रखके विषयोंमें आसक्त नहीं होता, कर्मेंद्रियोंकरके कर्मयोगको करता है वह श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

इससे तुम स्ववर्णोचित कर्म करो क्योंकि कर्म न करनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है और कर्मके विना तुम्हारा ज्ञानयोग करनेको शरीरनिर्वाह भी न सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

जो कर्मसे बंधन कहा है सो ऐसा कि, जो यज्ञार्थकर्म है उससे अन्यत्र कर्म करनेसे यह मनुष्य कर्मबंधनको प्राप्त होता है। हे कुंतीपुत्र! तुम फलासंग हो उस यज्ञके ही अर्थ कर्म करो॥९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

प्रजापति जो परमात्मा सो पुरा याने सृष्टिकालमें यज्ञसहित प्रजाको उत्पन्न करके बोले कि इस यज्ञकरके तुम वृद्धिको प्राप्त होओ यह यज्ञ तुम्हारे इच्छितकामनाओंको पूर्ण करनेवाला हो १०

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः ।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओंका पूजन कर उनको बढ़ावो वे तुम्हारे बढाये हुए देव तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करते हुए तुमको बढावेंगे ऐसे परस्पर बढ़ाते हुए तुम और देवता दोनों श्रेष्ठ कल्याणको प्राप्त होओगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

जो यज्ञ करोगे उससे वर्द्धित देव तुमको इच्छित भोग निश्चय करके देंगे उनके दिये हुए भोगोंको उनको दिये विना जो भोगेगा सो चोर है इससे चोरतुल्य दंड पावेगा ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥१३॥

देवादिपूजनरूप यज्ञका शेष याने बचे हुए अन्नादिकके भोगने वाले संत्पुरुष सर्वपापोंसे मुक्त होते हैं और जो अपने ही वास्ते अन्नको पचाते हैं वे पापी पाप को ही खाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥

अब दिखाते हैं कि, लोकदृष्टि और शास्त्रदृष्टिसे भी सबका मूल यज्ञ ही है सो ऐसे कि सर्वभूत प्राणी अन्नसे होते हैं अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे है सो लोकप्रसिद्ध देखनेमें आता है। वर्षा यज्ञसे होती है यह शास्त्रप्रसिद्ध है सो यह श्लोक-" अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति ॥ आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः " ॥ १ ॥ यज्ञोंकी उत्पत्ति यज्ञकर्ताके किये हुए कर्मसे होती है वह कर्म ब्रह्मसे उत्पन्न होता है ऐसे जानो। ब्रह्म नाम प्रकृतिका है यहां प्रकृतिका ही रूप शरीर ब्रह्म जानना। यहां प्रथमश्रुतिः-"तदेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" और "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" इत्यादि प्रमाणोंसे यहां यही अर्थ है कि, प्रकृतिको ब्रह्म कहते हैं उसीका परिणाम यह शरीर इससे कर्म होता है यह शरीर अक्षरसमुद्भव याने अक्षर जो जीव उस करके सहित उत्पन्न होता है याने सजीव शरीर कर्मका कारक है जिससे कि, शरीर ही कर्मकारक है इसीसे सर्वगत याने सर्वाधिकार योग्य शरीर यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित है याने यज्ञका मूल कारण है ऐसे यहां ईश्वरके द्वारा प्रवर्तमान इस चक्रको जो कर्माधिकारी किंवा ज्ञानकर्माधिकारी नहीं अनुवर्तता है याने यज्ञ विना शरीर पोषता है हे अर्जुन! सो इंद्रियाराम पापआयुष्य वृथा जीता है। जो चक्र कहा उसका स्पष्टार्थ यह है कि अन्नसे शरीर, वर्षासे अन्न, यज्ञसे वर्षा, कर्मसे यज्ञ, शरीरसे कर्म, अन्नसे शरीर ऐसा प्रवर्तित है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

कर्म न करनेसे किसको दोष नहीं सो कहते हैं, कि जो मनुष्य आत्मरति हो याने आत्मस्वरूपमें ही आनंदित रहता हो और आत्मस्वरूपसे ही तृप्त हो अन्नादिकसे प्रयोजन नहीं और आत्मामें ही संतुष्ट हो उसके लिये कार्य नहीं है उसके कर्म करनेसे न करनेसे भी यहां कुछ प्रयोजन नहीं है और इसके सब प्राणियोंमें कोई ऐसा नहीं जिससे कुछ प्रयोजन हो। तात्पर्य ऐसा मनुष्य कर्म करे अथवा न करे तो चिंता नहीं॥ १७॥ १८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

जिससे कि, ऐसेको दोष न हो तुम तो द्रव्य कुटुंबादिसे रत हो इससे कर्ममें आसक्त न होकर करनेयोग्य स्ववर्णोचित कर्मको निरंतर करो क्योंकि फलेच्छारहित कर्म करते करते पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है॥ १९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ २०॥

अब यह दिखाते हैं कि, ज्ञानीको भी कर्म ही श्रेष्ठ है। सो ऐसे जिससे कि, जनकादिक ज्ञानी भी कर्मकरके ही मोक्षको प्राप्त हुए तथा लोकसंग्रहको भी देखते हुए कर्म करनेके योग्य हो॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

यहां कारण यह है कि, श्रेष्ठपुरुष जो जो आचरण करते हैं दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं श्रेष्ठपुरुष जो प्रमाण करते हैं सब लोग वही प्रमाण करने लगते हैं॥ २१॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! तीनों लोकोंमें मुझको कुछ कर्त्तव्य नहीं है तथा नहीं प्राप्त ऐसा भी नहीं और प्राप्त हो ऐसा भी नहीं अर्थात् सब मेरा ही है तथापि कर्ममें ही वर्तमान रहता हूँ याने लोगोंको सिखानेके अर्थ कर्म करता रहता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! जो कदाचित् सावधान हुआ मैं कर्ममें न वर्तमान रहूं तो निश्चयकरके सब मनुष्य मेरी ही रीतिपर चलने लगें याने वे भी निरर्थक मानके कर्म न करें ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

जो कदाचित् मैं कर्म न करूं तो ये लोक भी ऐसे जानेंगे कि, जो कर्म श्रेष्ठ होता तो श्रीकृष्ण करते इससे कर्म तुच्छ है ऐसा जानकर कर्म छोड़कर नष्ट होंगे तब मैं वर्णसंकरका कर्त्ता होऊंगा और इन प्रजाओंका मारनेवाला होऊंगा ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५॥

हे अर्जुन! जैसे अविद्वान् लोग कर्ममें आसक्त हो कर्म करते हैं वैसे विद्वान् आसक्त हुआ लोकसंग्रहको करनेकी इच्छा किये हुए कर्म करे ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

जो ज्ञानी है वह ज्ञानयोगयुक्त हो कर्म करता हुआ जो कर्म

संगी अज्ञानी हैं उन्हे सब कर्मोंके सेवन करनेकी प्रेरणा करे याने उनसे प्रशंसा करके कर्म करावे और बुद्धिभेद यामे कर्ममें अश्रद्धा ने करावे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्त्तंत इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! सब कर्म प्रकृतिके सत्त्वादिगुणों करके किये हुए हैं जो अहंकारसे मूढचित्त हैं वे मैं कर्त्ता हूं ऐसा मानते हैं और जो सत्त्वादिक गुण और उनके कर्मविभागके तत्त्वका ज्ञाता है वह जानता है कि, सत्त्वादि गुण अपने अपने कार्योंमें वर्त्तमान हैं ऐसा जानकर आसक्त नहीं होता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

प्रकृतिके सत्त्वादिक गुणकार्योंकरके भूले हुए जो पुरुष वे सत्त्वादि गुणकर्मफलोंमें आसक्त होते हैं उन अल्पज्ञ मंदोंको सर्वज्ञ पुरुष कर्ममार्गसे चलायमान न करे ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

हे अर्जुन ! अध्यात्म जो स्वभाव 'स्वभावोऽध्यात्म उच्यते' इस प्रमाणसे क्षत्रियका जो शूरत्वादिक स्वभाव है उसमें चित्तको लगाकर उस चित्तसे सब कर्म मुझमें अर्पण करके निराशी याने फलाशारहित निर्मम याने कर्त्तापनका ममत्व छोड़के कर्मबंधनभयरूप ज्वरसे छूटे हुए युद्ध करो ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठंति मानवाः ।

श्रद्धावंतोऽनसूयंतो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठंति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

जो मनुष्य इस मेरे मतको नित्य धारण करते हैं और जो इसमें श्रद्धा ही रखते हैं और जो इसकी निंदारहित हैं वे भी कर्मबंधनोंसे छूट जाते हैं और जो इस मेरे मतकी निंदा करते हुए इसको ग्रहण नहीं करते हैं सर्वज्ञान विषयमें मूढ उन अज्ञानियोंको नष्ट हुए जानो ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥३३॥

जो ज्ञानवान् है वह भी अपने जातिस्वभावके सदृश चेष्टा करता है अज्ञ करे तो शंका ही क्या है; सब भूत प्राणी अपने जातिस्वभावको प्राप्त होते हैं यहां शास्त्र क्या निग्रह करेगा॥३३॥

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

जब कर्म स्वभावसे ही है और उसका निग्रह नहीं तब उपाय क्या-सो कहते हैं कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय इनके निमित्त राग द्वेष युक्त हैं उनके वश न होना क्योंकि वे इसके शत्रु हैं याने जीवके बंधनकारक राग द्वेष ही हैं ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

जो रागद्वेषके वश होनेसे स्वधर्मका त्याग और परधर्ममें निष्ठा होती है उसका निवारण करते हुए श्रीकृष्णजी कहते हैं कि नेत्रादि इंद्रियोंकी प्रीतिसे अर्जुन स्वधर्मोंको त्यागने लगे कि इन स्वजनोंको देखकर मेरे दया आती है इससे युद्ध न करूंगा,भीख

माँग खाऊँगा उसका निवारण करते हैं जैसे कि, श्रेष्ठकर्मारंभे अन्यके धर्मसे न्यून भी स्वधर्म कल्याणकारक है, स्वधर्ममें मरना कल्याणदायक है परधर्म मरनेसे भी अतिभयकारक है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३६॥

अर्जुन भगवान्से पूंछते हैं कि,हे वृष्णिवंशोत्पन्न कृष्ण ! आपने कहा स्वधर्म ही श्रेष्ठ है अन्यधर्म भयदायक है ऐसा जो जानता भी है और स्वधर्मपूर्वक ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होकर विषयोंको भी त्यागता है तो भी फिर यह पुरुष विषयइच्छा न करता हुआ भी बलात्कार विषयोंमें युक्त किया सरीखा किसका प्रेरा हुआ पापोंको करता है ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

अर्जुनका प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि, जो यह रजोगुणसे प्रकट काम याने कामना सो बड़ापापी अतिविषय सेवनरूपे बड़े आहारका करनेवाला यही क्रोधरूप हो जाता है इसको इस ज्ञानविषयमें बैरी जानो ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे अग्नि धुवाँकरके ढकता है और मलकरके दर्पण ढकता है जसे गर्भ जेरकरके वैसे यह ज्ञान उस कामना करके ढका है ३८

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

हे कुंतीपुत्र ! नित्य वैर करनेवाला दुःखसे भी न भर सकने वाला अतः अपरिपूर्ण अग्निरूप इस कामकरके ज्ञानियोंका ज्ञान ढक रहा है काम याने विषयवासना ॥ ३९ ॥

इंद्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

जब शत्रुको जीतना हो तो प्रथम उसका स्थान स्वाधीन करना इससे इस कामनाके स्थान कहते हैं सो वे ये हैं सब इंद्रियां मन और बुद्धि ये कामनाके स्थान कहलाते हैं. यह इनके ही द्वारा ज्ञानको आच्छादित करके जीवको मोहित करता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! इससे तुम प्रथम इंद्रियोंको संयममें करके स्वरूप ज्ञान और विज्ञान जो भक्ति इनके नाश करने वाले इस काम पापीको निश्चय मारो ॥ ४१ ॥

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

जो ज्ञानके विरोधी हैं उनमें विद्वान् लोग इंद्रियोंको प्रबल कहते हैं, इंद्रियोंसे मन प्रबल है और मनसे बुद्धि प्रबल है और जो बुद्धिसे प्रबल है वही आत्मा है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

हे महाभुज अर्जुन ! ऐसे बुद्धिसे पर आत्माको जानकर और स्वेच्छाचारी दुःसह कामनारूप शत्रुको जानके फिर मनको बुद्धि करके रोकके इस शत्रुको मारो ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां तृतीयाध्यायप्रवाहः ॥ ३ ॥

प्रकृतिसंसर्गी मुमुक्षु सहसा ज्ञानयोगाधिकारी नहीं हो सकता है इससे तीसरे अध्यायमें उसको कर्म करना ही उपदेश तथा ज्ञानयोगीको भी कर्तृत्वत्यागपूर्वक कर्म करना ही उत्तम कहा. और जनसंग्रहके लिये भी कर्म करना ही श्रेष्ठ कहा. अब जो जगदुद्धारके वास्ते मन्वंतरके आदिमें इसी कर्मयोगका उपदेश किया था उसीको इस चौथे अध्यायमें दृढ करते हैं, ज्ञान योग भी इसीके अंतर्गत है; इससे इसकी ज्ञानयोगाकारता दिखाके कर्मयोगका स्वरूप और भेद तथा उसमें ज्ञानांशकी प्रधानता तथा इसी प्रसंगसे भगवदवतारनिश्चय भी कहते हैं–

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णभगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि जो यह योग मैंने तुमसे कहा वह केवल युद्धोत्साह बढ़ानेके लिये तुमसे ही नहीं कहा इसको कल्पकी आदिमें भी कहा है सो सुनो। मैं प्रथम इस अव्यय कर्मयोगको सूर्यसे कहा था सूर्य वैवस्वतमनुसे कहा और मनु इक्ष्वाकुसे कहा ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

इस प्रकार परंपरासे प्राप्त इसको राजऋषियोंने जाना, हे परंतप ! सो यह योग इस समयमें बहुत कालसे नष्ट हुआ था ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही यह पुरातन योग मैंने तुमसे आज कहा क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो यह उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

यह सुनकर अर्जुन कहने लगे कि,तुम्हारा जन्म अभी हुआ विवस्वान्का जन्म प्रथम हुआ तो तुम आदिमें उनसे कहा इससे इसको हम कैसे जाने ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं इसीमें अपने अवतारका भी प्रयोजन कहेंगे सो ऐसे कि, हे परंतप ! अर्थात् शत्रुओंको संतापित करनेवाले अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं उन सबको मैं जानता हूं तुम नहीं जानते हो॥५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

कारण यह कि; मैं अविनाशी सर्वांतर्यामी हूं सर्वभूतोंका भी ईश्वर होते हुए तथा अजन्मा होनें पर भी मेरा स्वभाव जो सौशील्य वात्सल्य शरणागतरक्षकत्व इत्यादिक उसको आश्रित करके अर्थात् उस स्वभावसे ही अपने ज्ञान सहित अवतार लेता हूँ जीवको ज्ञान नहीं रहता है, मेरा ज्ञान अखंड है, मैं केवल स्वभक्तरक्षणार्थ अवतार लेता हूं इसका कारण अग्रिम श्लोकोंमें है ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत ! जब जब निश्चयपूर्वक धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब मैं रूपको धारण करता हूं ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जो स्वस्वभावसे अवतार कहा वह स्पष्ट करते हैं-धर्महानि अधर्मवृद्धि देखकर मैं साधुओंके संरक्षणके लिये और दुष्टोंके विनाशके वास्ते युग युगमें धर्मस्थापन करनेको अवतार लेता हूं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य याने प्राकृत नहीं हैं ऐसा जो निश्चय करके जानता है सो देहको त्यागकर पुनर्जन्म नहीं लेता है और मुझको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

व्यतीत हुए हैं सांसारिक अनुराग और क्रोध जिनके तथा सर्वत्र मुझको ही जानते हैं और जो मेरे ही आश्रित हैं ऐसे बहुत मेरे स्वरूपज्ञानरूप तपसे पवित्र मेरी सदृशताको प्राप्त हुए हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! सब मनुष्य मम वर्त्म याने जो जो सकाम निष्काम वेदमें मार्ग कहे हैं वे मेरे ही कहे मार्ग हैं, उन्हीं मार्गोंके आश्रित कर्म करते हैं, जो मुझको जैसे भजते हैं मैं उनको वैसे ही भजता हूं याने जो सकाम इंद्रादिरूप मुझको भजते हैं उनको "तदेवाग्निस्तत्सूर्यः ' अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता" इत्यादि प्रमाणसे इंद्रादिलोक, पुत्रादि कामना देता हूं और जो निष्काम मुझको सर्वेश्वर जानकर सब कर्म 'कायेन वाचा मनसेंद्रियैर्वा ' इत्यादि प्रमाणसे मेरे अर्पण करते हैं उनको अपने स्वरूपवैभवको प्राप्त करता हूं ॥ ११ ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

जो कर्मोंकी सिद्धिकी इच्छा करते हुए इस लोकमें देवताओंका यजन करते हैं उनको निश्चयंकरके शीघ्र मनुष्यलोकमें कर्मसे उत्पन्न सिद्धि होती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुणकर्मविभागसे अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण उनके शमदमादि कर्म, सत्त्वरजःप्रधान क्षत्रिय उनके शूरत्वादिकर्म,

रजस्तमःप्रधान वैश्य उनके कृषिवाणिज्यादि कर्म, तमःप्रधान शूद्र उनके परिचर्यात्मक कर्म इस प्रकार गुणकर्मविभागकरके चातुर्वर्ण्य यह संसार मैंने सृजा है उसका अविनाशी कर्त्ता और अकर्ता भी मेरेको जानो ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

जो प्रथम कहा कि, मुझको अकर्त्ता जानो उसका कारण कहते हैं सो ऐसा, कि मुझको कर्मफलमें इच्छा नहीं इससे मेरे कर्म नहीं लिप्त होते हैं ऐसा मुझको जो जानता है सो कर्मोंकरके नहीं बँधता है ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वसमयके मनु इत्यादिक मुमुक्षुजनोंने भी ऐसे जानके कर्म किया है इससे तुम पूर्व मुमुक्षुओंकरके किये हुए कर्मको ही करो ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है ऐसे इस विषयमें कविजन भी मोहित हुए सो कर्म मैं तुमको कहूँगा जिसको जानके संसारसे मुक्त होगे ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

जिस वास्ते कि कर्म याने करनेयोग्य कर्म उसका रूप भी जानना चाहिये और विकर्म जिस एक कर्ममें विविध प्रकार है उसका रूप भी जानना चाहिये और अकर्म जो निश्चयात्मक

बुद्धिकरके केवल ईश्वराराधनार्थ निष्काम कर्म उसका भी रूप जानना चाहिये इस वास्ते कर्मकी गति दुर्गमें है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

अब कर्म और अकर्मका स्वरूप जानना कहते हैं—जो प्रारंभित कर्ममें अकर्म याने आत्मज्ञाने देखे याने इस निष्काम-कर्मसे ही ज्ञान होगा इससे यह ज्ञान ही है और जो मनुष्य अकर्म जो आत्मज्ञान उसमें कर्म याने यह कर्मसे हुआ कर्म ही है ऐसा देखनेवाला मनुष्य मनुष्योंमें बुद्धिमान् है वह योगी और सोई सर्व कर्मोंका करनेवाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

जो कर्म प्रत्यक्ष कर रहा है उसकी ज्ञानाकारता कैसी होगी सो कहते हैं—सो ऐसी कि, जिसके सर्व लौकिक वैदिक कर्मोंके आरम्भ कामना संकल्पे रहित हैं ज्ञानरूप अग्निकरके दग्ध हुए हैं बंधन कर्म जिसके उसको विद्वान् जन पंडित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ॥२०॥

जो कर्मफलका संबन्ध छोड़के निरंतर आत्मस्वरूपमें ही तृप्त नश्वर संसारके आश्रयरहित कर्ममें प्रवृत्त भी है तो भी सो कुछ नहीं करता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो कर्मफलकी आशारहितचित्त और मन जिसका संयममें हो जिसने परमात्मप्रीति विना और सर्व उपासना त्यागी हो सो

केवल शरीरसंबंधी कर्मको करताँ हुआ कर्मबंधनरूप पीड़ाको नहीं प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबंध्यते ॥२२॥

जो आप ही आप मिले इतने ही लाभसे संतुष्ट हो और जो सुख दुःख लाभालाभ जय पराजय हर्ष शोक इत्यादिक द्वंद्वों करके रहित होय मत्सर जो दूसरेका सुख न सहना उस करके रहित कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि सो कर्म करके भी नहीं बंधन पावे ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

निवृत्त हुआ है आत्मानंद विना संग जिसका और संसारवासनासे मुक्त है और आत्मज्ञानमें अवस्थित है चित्त जिसका वह जो यज्ञके अर्थ कर्म करे तो उसके बंधनकारक सर्व प्राचीन कर्म नष्ट होते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

निष्काम कर्मसे ज्ञान होता है इस भेदसे कर्मकी ज्ञानाकारता कही अब परमात्माके अनुसंधानसे उसी निष्काम कर्मकी ज्ञानाकारता कहते हैं-सो ऐसे कि, जिस करके हव्य अर्पण करते हैं वह स्रुवादिक वस्तु ब्रह्म है याने ब्रह्मका ही काय है, घृतादिक हव्य भी ब्रह्म ही है ब्रह्मरूप अग्निमें वह ब्रह्मरूप हव्य ब्रह्मरूप होता करके होमा जाता है ऐसे यह सर्व ब्रह्मरूप है उसे ब्रह्मकर्मनियम करके ब्रह्म ही प्राप्त होने योग्य है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

ऐसे कर्मयोगकी ज्ञानाकारता कहके अब कर्मयोगके भेद कहते हैं–अपरे ' अकारो वै विष्णुः ' इस श्रुतिप्रमाणसे जो विष्णुपरायण हैं वे योगी दैवं यज्ञ याने प्रतिमापूजनरूप यज्ञं करते हैं इनसे और भी ऐसे ही योगी ब्रह्मात्मक अग्निमें यज्ञसाधन सामग्रीकरके हवनात्मक यज्ञमें ही हवन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

और कितने योगी श्रोत्रादिके इन्द्रियोंको संयमरूप अग्निमें होमते हैं अर्थात् श्रोतादिकोंको हरिकीर्ति श्रवणादिकमें ही युक्त करते हैं और कितनेक शब्दादिके विषयोंको इन्द्रिय रूप अग्निमें होमते हैं याने हरिकीर्त्तन विना और श्रवणादिक नहीं करते हैं २६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

और कितने योगी सर्व इंद्रियोंके कर्मोंको और प्राणोंके कर्मोंको ज्ञान करके प्रदीप्त ऐसे मनके संयमरूप अग्निमें होमते हैं. अर्थात् मन करके इंद्रिय प्राण कर्मवृत्तियोंको संसारविषयसे निवारण करके आत्मज्ञानमें लगानेका यत्न करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥ २८ ॥

और कितने योगी द्रव्यसे यज्ञ करते हैं. याने दानादिक करते हैं, कितनेक उपवासादिकरूप यज्ञ करते हैं. वैसें ही और कितनेके पुण्य क्षेत्रादि वास रूप योग करते हैं और कितने दृढव्रती यती याने यत्नशील वे वेदाध्ययन वेदार्थविचाररूप यज्ञ करते हैं॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टाऽमृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ३१॥

और कितनेक कर्मयोगी प्रमाणसे आहार करनेवाले जैसे कि, आधा पेट अन्नसे भरे चौथाई जलसे और चौथाई वायुसंचारके लिये खाली रखे ऐसे और प्राणायामपरायण योगी अपानमें प्राणका हवन करते हैं याने पूरक करते हैं; और कितनेक प्राणवायुमें अपानको हवन करते हैं याने रेचक करते हैं और कितनेक प्राण अपान दोनोंकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणमें ही हवन करते हैं याने कुंभक करते हैं; ये सब यज्ञके जाननेवाले यज्ञकरके पापरहित यज्ञका ही शेष अमृतरूप अन्नके खानेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! जो यज्ञ नहीं करता है उसको यह लोक भी नहीं है और परलोक तो कैसे होगा ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदमें विस्तारसे कहे हैं उन सबको कर्मज जानो याने वे कर्मसे ही होते हैं, ऐसा जानकर कर्म करके मुक्त होगे ॥ ३२ ॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परंतप! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, कारण कि, द्रव्य-

यज्ञका भी फल ज्ञान ही है। हे पार्थ ! फलसहित सब कर्म ज्ञानेमें समाप्त होता है; याने इस ज्ञानके ही लिये यज्ञ करते हैं ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

वह ज्ञान तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुमको उपदेशेंगे, तुम उनकी सेवा और सत्कारपूर्वक नमस्कार करके उनसे प्रश्न कर जानो यहां श्रीकृष्ण भगवान्ने केवल ज्ञानी जनोंकी प्रशंसाके लिये यह वाक्य कहा है और "अविनाशि तु तद्विद्धि" यहांसे लेकर "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" यहांतक तो ज्ञान उपदेश कर ही चुके हैं ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

हे पांडुपुत्र ! जिस ज्ञानको जानकर ऐसे मोहको फिर नहीं प्राप्त होगे. जिस ज्ञानकरके सब भूतप्राणिमात्रको आप सदृश देखोगे. जैसे कि, प्रकृतिसे भिन्न ये परज्ञानाकारतासे सब समान हैं आप सदृश देखे पीछे फिर मेरे समान देखोगे याने ज्ञान प्राप्त हुए जीव मेरी समताको प्राप्त होते हैं सो आगे कहेंगे भी. "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" यहां ब्रह्मसूत्र भी प्रमाण है "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च" ऐसे ही श्रुति भी प्रमाण है "तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमां शांतिमुपैति" इत्यादि प्रमाणोंसे नाम रूप रहित याने सूक्ष्मावस्थामें आत्मा और परमात्माकी स्वरूप समता निश्चय होती है ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

जो कि; सब पापियोंसे भी तुम बड़े पापकारक होगे तो भी इस ज्ञानरूप नौकासे ही सब दुःखसमुद्रको तरोगे ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि समग्र इंधनको भस्म करता है वैसे ही विज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मबंधनको भस्म करता है ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥३८॥

इस लोकमें निश्चयकरके (तप योगादिकोमें कोई भी) ज्ञानके सदृश पवित्र नहीं हैं उस ज्ञानको कुछ काल कर्म करते करते कर्मयोगसे सिद्ध होकर आपमें ही आपही प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

ज्ञानप्राप्तिमें लगा हुआ इंद्रियोंको संयममें किये हुए श्रद्धा-वान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है उस ज्ञानको पाकर थोड़े ही कालमें परम शांतिको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

जो अज्ञान है और ज्ञानप्राप्तिमें श्रद्धाको भी नहीं धारण किया है और मनमें संशय रखता है वह नष्ट भ्रष्ट संसारमें भ्रमता है. जिसके मनमें संशय है उसको यह लोक सुखदायक नहीं है, परलोक भी नहीं है उसको कहीं भी सुख नहीं है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

हे अर्जुन! परमेश्वराराधनरूप जो निष्काम कर्म योग उस योगसे परमात्माके अर्पण किये हैं कर्म जिसने और ज्ञानसे

संच्छिन्न हुए हैं संशय जिसके ऐसे स्थिरचित्त ज्ञानीको कर्म नहीं बंधन करते हैं ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! इससे जो अज्ञानसे उत्पन्न तुम्हारे हृदयमें स्थित ऐसे इस अपने संशयको ज्ञानखड्गसे छेदन करके उठो और कर्मयोगमें प्रवृत्त होओ याने क्षत्रियका युद्ध कर्म करो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता-
मृततरंगिण्यां चतुर्थाध्यायप्रवाहः ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णसे अर्जुन पूँछते हैं कि, हे कृष्ण ! कर्मोंका संन्यास जो ज्ञानयोग उसको और फिर कर्मयोगको कहते हो इन दोनोंमें जो निश्चित किया हुआ श्रेष्ठ हो उसे ही मुझसे कहो. जैसे कि, दूसरे अध्यायमें कहा कि मुमुक्षु प्रथम कर्म करके अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ज्ञानयोगसे आत्मदर्शनका उपाय करे, तीसरे चौथेमें ज्ञानीको भी कर्म करना ही श्रेष्ठ कहा, ऐसे दोनों कहते हो जो इन दोनोंमें श्रेष्ठ हो वही कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

जब अर्जुनने प्रार्थना की तब श्रीकृष्ण भगवान् बोले कि संन्यास जो कर्मका त्याग और कर्मयोग ये दोनों कल्याण कारक हैं उनमें भी कर्मके त्यागसे कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है ॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥३॥

हे महाबाहो! जो न कोई वस्तुसे द्वेष करे, न चाहना करे वह सुख दुःखादि द्वंद्वरहित नित्य संन्यासी जानना वह सुख पूर्वक निश्चय बंधनसे मुक्त होता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

जो मूर्ख हैं वे सांख्य योगोंको याने ज्ञानकर्मोंको न्यारे कहते हैं पंडित नहीं कहते हैं. इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी तरहसे स्थित हुआ दोनोंके फलको सम्यक् पाता है ॥ ४

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो स्थान ज्ञानकरके प्राप्त होता है वही कर्मकरके भी प्राप्त होता है इससे ज्ञानको और कर्मको जो एक जानता है सो जानता है याने विद्वान् है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! यह संन्यास कर्म विना प्राप्त होना दुर्गम है याने नहीं हो सकता. जो कर्मयोग युक्त आत्मज्ञानमें मन लगाये हैं वे थोड़े ही कालमें ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जो कर्मयोगयुक्त है याने निष्काम कर्म करता है और वाणी जिसकी शुद्ध है याने वाणीसे हरिकीर्त्तन करता है और मन शुद्ध है याने मनसे हरिस्मरण करता है और जितेंद्रिय है याने इंद्रिय-विषयको श्रेष्ठ नहीं जानता है और सर्व भूतप्राणिका आत्मा-अंतर्यामीमें मन है आत्मा जिसका सो पुरुष कर्म करता हुआ भी नहीं लिप्त होता है ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तंत इति धारयन् ॥ ८ ॥ ९ ॥

इंद्रिययोंके विषयोंमें इंद्रियां वर्तमान रहती हैं ऐसे धारण करे हुए तत्त्वज्ञानी, कर्मभोगी देखता, सुनता, स्पर्शता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, छोड़ता, पकड़ता; नेत्रखोलता मीचता हुआ भी मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ऐसे मानता है ॥ ८ ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो शरीरमें याने शरीरस्थ इंद्रियोंमें कर्मोंको धारण करके याने कर्म करनेवाली इंद्रियां हैं ऐसे जानके कर्मफलासक्तिको त्यागके कर्म करता है सो पापकरके नहीं लिप्त होता है, जल करके कमलपत्र सरीखा ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥११॥

जो योगी हैं वे फलसंग त्यागके आत्मशुद्धिके लिये याने आत्मगत प्राचीन कर्मबंधन छूटनेके वास्ते शरीरकरके, मनकरके, बुद्धिकरके, केवल इंद्रियोंकरके भी कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥ १२ ॥

युक्त याने आत्मज्ञानयोगयुक्त पुरुष कर्मफलको त्यागके ईश्वरनिष्ठ शांतिको प्राप्त होता है जो आत्मज्ञानयोगरहित है सो यथेष्ट करणकरके फलविषे आसक्त हुआ ऐसा जो जीव सो बद्ध होता है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

वशी याने जिसका चित्त वश है ऐसा देहधारी जीवसों नवद्वारका पुर जो देह उसमें मनसे कर्मोंको स्थापित करके न करता ने कराता हुआ सुख जैसे हो वैसे ही रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

प्रभु याने अविनाशी आत्मा लोक जो देवादिकशरीर उसका न कर्त्तापन न कर्म न कर्मफलके संयोगको सिरजता है क्योंकि, यह स्वभाव याने अनादिकालसे प्रकृतिसंसर्गकी वासना प्रवृत्त है ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ॥ १५ ॥

जैसे कि, कर्तृत्व और कर्मोंको नहीं उत्पन्न करता है इसीसे यह जीवात्मा किसी शरीरसंबंधी पापको भी नहीं ग्रहण करता है

और सुकृतको भी नहीं ग्रहण करता है क्योंकि जिनका ज्ञान अज्ञानकरके ढक रहा है उस करके वे जीव मोहको प्राप्त होते हैं याने अज्ञानकरके देहादिकमें आसक्ति और उससे दुःख होता है ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

जिनका आत्मसंबंधी ज्ञानकरके वह अज्ञान नष्ट हुआ है उनका वह श्रेष्ठ ज्ञान सूर्यसदृश प्रकाश करता है याने वे संसारदुःखरहित मुक्त हैं ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

उस आत्मज्ञानमें ही है बुद्धि जिनकी उसीमें है मन जिनका उसीमें है निष्ठा जिनकी और वही है श्रेष्ठ स्थान जिनका इस तरहसे ज्ञानकरके नष्ट हुए हैं मनके विकार जिनके वे पुरुष मुक्तिको पाते हैं ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥

विद्या और विनय युक्त ब्राह्मणम, गऊमें, हाथीमें, और कुत्तेमें और चांडालमें भी पंडितजन समदर्शी होते हैं याने आत्माको आप सदृश जानते हैं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

जिनका मन ऐसी समतामें स्थित है उन्होंने यहां ही संसार जीता है. जिस वास्ते कि, ब्रह्म निर्दोष सर्वत्र समान है इसीसे वे ब्रह्मप्राप्ति निमित्त स्थित हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

प्रिय वस्तुको पाकर हर्ष नहीं और अप्रियको पाकर व्याकुल न होना; ऐसा स्थिरबुद्धि विचारशील ब्रह्मका ज्ञाता ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त स्थित है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

शब्दादिक विषयोंमें अनासक्त हुआ जो आत्मामें सुखको पाता है सो ब्रह्मप्राप्ति उपाय चित्तवाला पुरुष अक्षय सुखको पाता है याने मोक्ष पाता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

हे कुंतीपुत्र ! जो शब्दस्पर्शादिक भोग हैं वे दुःखके कारण आद्यंतवंत हैं याने होते जाते रहते हैं अर्थात् अल्पसुख हैं इस निश्चयसे उनमें पंडितजन नहीं रमते हैं ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य कामक्रोधके वेगको शरीरसे निकलनेके प्रथमें उस वेगको सहनकर सकता है सो योगी है, सो मनुष्य इस लोकमें सुखी है ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो आत्मामें ही सुखी और आत्मामें ही है विश्राम जिसको तैसे ही जो अंतर्ज्योति याने आत्मज्ञान ही करके प्रकाशित है सोही योगी ब्रह्मप्राप्ति उपाय तत्पर ब्रह्मवत् मुक्तिको प्राप्त होता है २४॥

लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ॥
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके लाभ अलाभ सुख दुःखादिक दो दो उपद्रव नष्ट हुए हैं, जिनका मन ईश्वरमें लगा है और सर्वभूत प्राणिमात्रके हितमें रहते हैं इससे उनके पाप क्षीण हुए हैं ऐसे ऋषिजन ब्रह्मसमान मुक्तिको पाते हैं ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

जो कामक्रोधरहित हैं और ईश्वरप्राप्तिके यत्न करनेवाले हैं और चित्त जिनके वश हैं ऐसे आत्मज्ञानियोंको सर्व प्रकारसे ब्रह्मसुख वर्त्तमान होता है ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाह्य इंद्रियोंके स्पर्श जो शब्दादिक विषय उनको बाहर याने त्याग करके फिर भौंहोंके मध्यमें दृष्टिको करके नासिकाके भीतर ही संचार करे ऐसे प्राणापानोंको सम करके जो मुनि याने मननशील पुरुष इन्द्रिय, मन और बुद्धिको वश करे, मोक्षमें ही आसक्त, इच्छा, भय और क्रोध करके रहित हो सो सदा मुक्त ही है ॥ २७ ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अब और भी अति सुगम मुक्तिके उपाय कहते हैं. सर्व यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सर्व लोकोंका महेश्वर याने लोकेश्वरोंका भी ईश्वर सर्वभूतप्राणिमात्रका सुहृद् ऐसा मुझको जांनके भी मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां गीतामृततरंगिण्यां पञ्चमाध्यायप्रवाहः ॥ ५ ॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

कर्मयोग कहके अब ज्ञानकर्मसाध्य आत्मदर्शनरूप योगाभ्यास कहते हैं. तहां कर्मयोगकी अपेक्षारहित योगसाधनत्व दृढ करनेको ज्ञानाकार कर्मयोगको योगशिरोमणि कहते हैं—सो ऐसे कि, जो कर्मफलको न चांहता हुआ स्ववर्णाश्रमोचित करने योग्य कर्मको करता है सो संन्यासी है औरं योगी है. जिसने अग्निकर्मको त्यागा है सो संन्यासी और योगी नहीं है और जिसने क्रियाकर्मको त्यागा है सो भी संन्यासी योगी नहीं है ॥ १ ॥

"यहां एक श्रीकृष्णका अभिप्राय और भी दीखता है, कलियुगमें संन्यासका निर्वाह होगा नहीं क्योंकि मनुष्योंकी बुद्धि चंचल होगी. सो देखनेमें भी आता है कि, जो घर छोड़ते हैं तो संन्यासी होके मठ बाँधके व्यापार करते हैं; जो स्त्रीविवाहित नहीं तो परस्त्रीगमन करते हैं. पुत्रोंकी जगह शिष्य करते हैं; ऐसे ही और भी सामान्य गृहस्थोंसे अधिक रखके केवल प्रपञ्चरत होते हैं इससे श्रीकृष्णने निष्कामकर्म कर्त्ताको ही संन्यासी योगी कहा है और अग्निकर्म तथा क्रिया त्यागनेका निषेध किया है"॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २॥

अब कहे हुए कर्मयोगमें ज्ञान भी दिखाते हैं. हे पांडुपुत्र ! जिसको संन्यास कहते हैं उसको अभेदकरके योग जानो जैसें कि; कर्मफलसंकल्पत्याग विना कोई भी योगी नहीं होती है. अर्थात् कर्मफलको ईश्वरार्पण किये विना योगी संन्यासी होता नहीं. जो कर्मफलको ईश्वरार्पण करता है वही योगी और संन्यासी है ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

आत्मज्ञानकी प्राप्ति चाहनेवाले मननशीलको ज्ञानप्राप्ति-कारण कर्म कहा है, उसी ज्ञान प्राप्त हुएको मुक्तिकारण संकल्प-विकल्पत्यागपूर्वक कर्म ही कहा है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जब न इंद्रियोंके विषयोंमें न कर्मोंमें आसक्त हो तब सर्वसं-कल्पोंका त्यागी योगारूढ कहाता है इससे कर्म करना आव-श्यक है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

ऐसे अपने वश मनके द्वारा अपना उद्धार करे, अपना अवसाद याने घात अर्थात् अधोगति न करे, कारण कि, अपना मन ही अपना मित्र है और वह मन ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥

बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने बुद्धिकरके निश्चय मन जीता है उसे जीवात्माका मन मित्र है और जिसने मन नहीं जीता है उसका मन शत्रुत्वमें शत्रु सरीखा होता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

शीत, उष्ण, सुख और दुःखोंमें तथा मान, अपमानोंमें जीता है मन जिसने ऐसे शांतकी बुद्धि अतिशय परिपूर्ण रहती है ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

ज्ञान जो आत्मज्ञान, विज्ञान जो विशेष ज्ञान अर्थात् अनात्म आत्मविवेक इन करके जिसका मन तृप्त हो कूटस्थ याने निर्वि-कार सर्व शरीरोंमें आत्माको समान जाननेवाला जितेंद्रियत्वसे जो ठीकरी, पत्थर और सोना इनको सम जान रहा है ऐसा योगी युक्त याने आत्मदर्शनयोगयुक्त कहलाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद् जो प्रत्युपकार विना हितकारक, मित्र परस्पर उप-कारी, अरि शत्रु, उदासीन जो प्रीति वैर रहित, मध्यस्थ जो सब-काल प्रीति वैर समान, द्वेष्य जो सदा ईर्षा करता हो सो, जो सदा हितेच्छु सो बंधु, जो धर्मशील सो साधु और जो पापशील सो पापी इन सबोंमें भी जो समबुद्धि हो सो श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

एकं ही बैठा, स्ववश मनवाला, सांसारिक आशारहित, परिग्रहरहित ऐसा योगी एकांतमें बैठा हुआ मनको निरंतर परमात्मामें लगाता रहे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

अब योगाभ्यासमें आसन नियम कहते हैं—पवित्र स्थानमें न अति ऊंचा, न अतिनीचा, कुशासनपर मृगचर्मादिक उसपर वस्त्र ऐसा स्थिर अपना आसन बिछाके उस आसनपर बैठकरै मनको एकाग्र करै चित्त और इंद्रियोंके कर्म स्ववश कर अपने बंधन छूटनेके वास्ते योगको करे ॥ ११ ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अब बैठनेका नियम कहते हैं—काय जो मध्यशरीर शिर और ग्रीवा इनको अचल स्थिर और सम रखते हुए अपने नासिकाग्रको देखकर और औरं ओर न देखता हुआ प्रशांतचित्त भयरहित ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित मुझमें चित्त लगाये हुए मनको नियमित करके आत्मनिष्ठ पुरुष मुझमें लीन हुआ बैठा रहे ॥ १३ ॥ १४ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५॥

ऐसे नियममें मन है जिसका ऐसा योगी ऐसे ही सबकालमें

मनको मुझमें लगाता हुआ आनंद है परम जिसमें ऐसी मेरे सदृश शांतिको पाता है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥

अब योगीके आहारादिकोंका नियम कहते हैं—हे अर्जुन ! जो अति भोजन करता है उसका योग नहीं सिद्ध होता है और जो कुछ भी भोजन न करे उसका भी योग नहीं सिद्ध होता है और अतिसोनेवालेका योग नहीं सिद्ध होता है, अतिजागनेवालेका भी योग नहीं सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

जो आहार और स्त्रीप्रसंग प्रमाणमें करेगा "आहारका प्रमाण यह कि, आधा पेट अन्नसे और चौथाई जलसे भरकर चौथाई पवन-संचारके लिये खाली रखे. स्त्रीप्रसंगप्रमाण यह है कि, अतिकामकी इच्छा होनेसे स्त्रीसंग करे; जो कोई यहां शंका करे कि, योगीको तो ब्रह्मचर्य कह आये हैं; जैसे कि, इसी अध्यायके चौदहवें श्लोक-में कहा है सो सत्य है, परंतु "ऋतौ भार्यामुपेयात" इस श्रुतिप्र-माणसे ऋतुसमयमें स्त्रीप्रसंग करनेमें भी एक ब्रह्मचर्य है, और भी कहा है कि, "इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्त्तंत इति धारयन् ॥ कर्मेंद्रि याणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन" इत्यादि तथा कहेंगे कि, "अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्" तो जो योगी स्त्रीप्रसंग न करेगा तो उसके कुलमें जन्म कैसे होगा? इत्यादि प्रमाणोंसे योगी स्त्रीप्रसंग प्रमाणसे करे यह विहारशब्दका अर्थ सिद्ध है. ऐसे ही कर्ममें भी चेष्टा प्रमाणसे ही करे, अति परिश्रम न करना यहाँ भागवतका प्रमाण देते हैं "सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः" ऐसा द्वितीय स्कंधके दूसरे अध्यायके तीसरे

श्लोकमें कहा है। ऐसे ही जो प्रमाणसे सोवे और प्रमाणसे ही जागे उसका दुःखनाशक योग सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

जब आत्मामें ही अतिनिश्चल चित्त लगा रहता है तब सब कामनाओंसे निस्स्पृह हो वह पुरुष युक्त ऐसा कहाता है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जैसे निवातस्थानमें धरा हुआ दीपक नहीं हिलता वैसे ही वश है चित्त जिसका ऐसे योगको करनेवाले योगीके मनकी जो उपमा सोई कही है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगसेवन करके विषयोंसे रोका हुआ चित्त जहां विश्रामको प्राप्त होता है और जहां बुद्धिकरके आत्मस्वरूपको निश्चय करता हुआ मनमें ही संतुष्ट हो ॥ २० ॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

जो इंद्रियोंके जाननेमें न आवे, बुद्धिसे ही ग्रहण करनेमें आवे ऐसा जो अत्यंत सुख उसको जिस योगमें स्थित हुआ यह पुरुष जानता है ऐसे निश्चय और फिर आत्मस्वरूपसे नचलायमान हो ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

जिसको पाकर फिर उससे अधिक श्रेष्ठ लाभ नहीं मानता है जिसमें प्रवृत्त हो भारी भी दुःखसे नहीं घबराता है ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥

उसको दुःखका संयोग और वियोगकारक योगनामक जानना सो योग निर्विकल्प चित्तसे निश्चयकरके करने ही योग्य है ॥२३॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्२५॥

स्पर्शजन्य और संकल्पज इस भेदसे कामना दो प्रकारकी है, उनमें स्पर्शज शीत उष्णादिक, संकल्पज पुत्रवित्तादिक इनमें स्पर्शजका त्याग स्वरूपसे नहीं हो सकता इससे संकल्पज सर्व कामनाओंको समग्रतासे मनसे ही त्यागकर सब इंद्रियोंको सर्वत्रसे नियमित करके विवेकशुद्ध बुद्धि करके धीरे धीरे विश्रामको प्राप्त होना फिर मनको आत्मस्वरूपमें स्थिर करके आत्मस्वरूपके अतिरिक्त और किसीको भी न चिंतन करना ॥ २४ ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यह मन चंचल है इसीसे आत्मस्वरूपमें स्थिर नहीं रहता है सो यह मन जहां जहां लगे वहां वहांसे इसको फिराके आत्मस्वरूपमें ही लगाना ॥ २६ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

कारण कि, जिसका मन आत्मस्वरूपमें स्थिर है उसीसे उसका रजोगुण भी नष्ट हुआ है, उससे वह निष्पाप है, उससे वह अपने स्वरूपमें स्थिर है ऐसे इस योगीको उत्तम याने आत्मानुभवरूप सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

ऐसे निष्पाप योगी इसीतरह सर्वदा मनको स्वरूपज्ञानमें युक्त करता करता ब्रह्मानुभवरूप अत्यंत सुखको सुखसे पाता है २८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वत्र शत्रुमित्रादिकोंमें समदृष्टि योग जो " द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया " इस श्रुतिप्रमाणसे सखित्वरूप संयोग उसमें लगाया है मन जिसने वह सब जगह आपरूपको आकाशादि सर्वभूतोंमें स्थित और उन आकाशादि सर्वभूतोंको आपमें देखता है॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

ऐसे जो मुझको सर्वत्र मालाके मणिकोंमें सूत्रकी तरह देखता है और सब जगत् सूत्रमें मणिकोंकी तरह मुझमें देखता है मैं उसके अदृश्य नहीं होता हूं और वह मेरे अदृश्य नहीं है ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

जो एकत्व अर्थात् सबसे मित्रभाव, (एकत्वका अर्थ जो स्वरूपकी एकता करे तो भजन किसका करे ? इससे मित्रता ही अर्थ है. वाल्मीकीयसुंदरकांडमें भी " रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं

समजायत" इस हनुमानके वाक्यसे एकताका अर्थ मित्रता ही सिद्ध होता है इससे) जो सबकी मित्रतामें रहता हुआ सब भूतोंमें व्यापक मुझको भजता है निश्चय वह योगी सब आचरण करता हुआ मुझमें वर्त्तमान है याने मेरे हृदयमें वसता है ॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

हे अर्जुन! जो सुख अथवा दुःखको अपने समत्व करके सर्वत्र समान देखता है वह योगी उत्तम है. यह श्लोक उनतीसवें श्लोकको स्पष्ट करनेवाला है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्३३

श्रीकृष्णके वाक्य सुनके अर्जुन बोले-कि, हे मधुसूदन! जो यह योग समतासे तुमने कहा सो मनके चंचल होनेसे मैं इसकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूं ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

हे कृष्ण! जिससे कि यह मन चंचल इंद्रियोंका क्षोभक दृढ बली है मैं इसका रोकना पवनका रोकना जैसा दुष्कर मानता हूं३४॥

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

ऐसा सुन श्रीकृष्ण भगवान् बोले-कि, हे महाबाहो! यह मन चंचल है इसीसे रोकनेमें आना कठिन है, यहां संशय नहीं तो

भी हे कुंतीपुंत्र! अभ्यास करके और वैराग्य करके रोकनेमें आता है ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

यह योग जिसने मन वश न किया उससे प्राप्त होनेका नहीं ऐसी मेरी मति है और जिसने मनको वश किया है उससे यत्न करते करते उपायसे प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ३७॥

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते" इत्यादि वाक्यों करके योगमाहात्म्य सुना था तो भी विशेषज्ञानके वास्ते फिर पूंछते हैं जैसे कि, हे कृष्ण! जो श्रद्धाकरके युक्त और यत्न न कर सका इससे योगसे मन चलायमान हुआ इससे योगसिद्धिको न पाकर किस गतिको जाता है ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो! वेदके मार्गमें भूलाहुआ याने स्वर्गादि प्राप्ति निमित्त कर्म त्यागकर निष्कामकर्मरूप योगको भी न प्राप्त हुआ इसीसे वह अप्रतिष्ठित और उभयभ्रष्ट अर्थात् स्वर्गादि प्राप्तिकारक कर्म भी छोड़ा और योग भी न मिला इसीसे कदाचित् छिन्नाभ्रकी तरह जैसे बड़े मेघमेंसे निकलकर मेघका टुकडा दूसरे मेघको न प्राप्त होकर बीचमें ही नष्ट होता है वैसे ने नष्ट हो" ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! इस मेरे संशयको अच्छी तरहसे छेदन करनेको योग्य हो क्योंकि, इस संशयको दूरकरनेवाला तुम्हारे विना दूसरा नहीं मिलेगा ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

अर्जुनके वाक्य सुनके कृष्ण बोले–कि, हे पार्थ ! उस योगीका नाश न इस लोकमें ही न परलोकमें होता है; क्योंकि, हे तात ! शुभकर्त्ता कोई भी दुर्गतिको नहीं पाता है ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

जो योग पूरा किए विना मर जाय तो भी वह योगभ्रष्ट पुण्य करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होकर वहां अनेक वर्ष रहकर पवित्र और धनवालोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें ही जन्मलेता है, जो ऐसा यह जन्म सो इस लोकमें निश्चय दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥ ४३ ॥

हे कुरुनंदन ! वहां जन्म लेकर वही पूर्वदेहसंबंधी बुद्धि संयोगको पाता है और उसके पीछे फिर भी उस सिद्धिके निमित्त यत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥

जो न करना चाहे इंद्रियजित न हो तो भी वह पुरुष उसी

पूर्वाभ्यासकरके उसीको प्राप्त होता है. क्योंकि, जो योगके जाननेकी इच्छा भी करे तो भी शब्दब्रह्म याने देवादिनाम शब्द-युक्त जो प्रकृति उसको उल्लंघन कर जाता है अर्थात मुक्त हो जाता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

ऐसे प्रयत्नसे योग करता करता निष्पाप हुआ योगी अनेक जन्मोंसे सिद्ध होकर निश्चय मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः॥
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

हे अर्जुन ! योगी जो निष्काम कर्म कर्ता है वह सकामिक तपस्वियोंसे अधिक माना है, ज्ञानियोंसे भी अधिक है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी अधिक है इससे तुम "योगी हो" याने निष्काम होके स्वधर्मरूप क्षत्रियकर्मसे युद्ध करो॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अभ्यास-
योगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें लगे हुए चित्तसे (श्रद्धायुक्त हो मुझको भजता है सो सर्व योगियोंमें भी श्रेष्ठ योगी है ऐसा मेरा अभिप्राय है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृत-तरंगिण्यां षष्ठाऽध्यायप्रवाहः ॥ ६ ॥

इति प्रथमं षट्कं समाप्तम् ।

अथ द्वितीयषट्कं प्रारभ्यते ।

प्रथम षट्कमें याने प्रथमके छः अध्यायोंमें ईश्वरप्राप्तिका उपायरूप भक्तियोगका अंग आत्मस्वरूपज्ञानकी प्राप्ति ज्ञान-योग और कर्मयोगसे कही. अब मध्य षट्कमें याने छः से बारह पर्यंत छः अध्यायोंमें परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान और उस ज्ञानके माहात्म्यपूर्वक भगवत्‌की उपासना याने भक्ति इसीको प्रतिपादन करते हैं. इसका खुलासा अठारहवें अध्यायमें पैता-लीस श्लोक पीछे "यतः प्रवृत्तिः" यहाँसे लेके "मद्भक्तिं लभते पराम्" इस चौवनवे श्लोकपर्यंत कहेंगे अब सातवें अध्यायमें भगवान् अपना स्वरूप वैभव वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! तुम मुझमें चित्त लगाये हुए मेरे आश्रित होकर योगमें युक्त हुए जैसे संशयरहित समग्र याने विभूतिबलसहित मुझको जानोगे सो सुनो ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

मैं तुमको इस विज्ञानसहित ज्ञानको संपूर्णकरके कहता हूं जिसको जानके फिर इस लोकमें और कुछ भी जानने योग्य नहीं रहता है ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

मनुष्योंके हजारोंमें याने अनेक हजार मनुष्योंमें आत्मज्ञान-सिद्धिके वास्ते कोई एक यत्न करता है यत्न करनेवाले सिद्धोंमें

भी कोई एक मुझको निश्चयकरके जानता है अर्थात् ऐसा जान-
नेवाला ही दुर्लभ है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि
और अहंकार ऐसे आठ प्रकारकरके अलहदा २ हुई यह जो
मेरी प्रकृति सो यह अपरा याने जड है और इससे और जीवरू-
पको मेरी परा याने चेतन प्रकृति जानो, जिस प्रकृतिकरके
यह जगत धारण किया गया है ॥ ४ ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण प्राणिमात्र इन्हीं दोनोंसे प्रगट होते हैं ऐसा जानो
मैं सर्व जगतका उत्पत्तिस्थान तथा प्रलयस्थान भी हूं ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

सूत्रमें मालाके मणियोंकी तरह मुझमें यह सर्व जगत् गुंथा
है इसीसे हे धनंजय मुझसे न्यारा और कुछ भी नहीं है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

"सूत्र मणिगणा इव" इसीको दिखाते हैं. हे कुंतीपुत्र! जलमें
रस चंद्रसूर्यकी कांति सर्व वेदोंमें ॐकार, आकाशमें शब्द पुरुषोंमें
पुरुषार्थ मैं हूं याने इन जलादिकोंके सार जो रसादिक उनका

भी शरीर मैं और ये मेरे शरीर हैं ऐसे अहं शब्दका अर्थ सर्वत्र शरीर शरीरी संबंधसे जानना ॥ ८ ॥

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथिवीमें पवित्र गंध और अग्निमें तेज मैं ही हूं, सब भूतप्राणियोंमें आयुष्य और तपस्वियोंमें तप मैं हूं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ ! सब भूतोंका सनातन उत्पत्तिकारण मुझको जानो, मैं बुद्धिमानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज हूं ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ ! मैं जो वस्तु प्राप्त नहीं उनकी कामना और प्राप्त वस्तुमें जो अनुराग इन कामरागोंसे रहित बलवंतोंका बल और भूत प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम हूं ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो शमादिक सात्त्विक भाव और द्वेषादिक राजस और जो मोहादिक तामस भाव हैं वे मुझसे ही हैं ऐसे उनको जानो तो भी मैं उनमें नहीं याने उनके स्वाधीन नहीं हूँ वे मुझमें हैं-अर्थात् मेरे स्वाधीन हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन तीनों गुणमय भावोंसे मोहित यह सब जगत् इनसे परे अविनाशी मुझको नहीं जानता है ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते ॥१४॥

इस लिए यह गुणमयी दैवी याने मेरी संबंधिनी मेरी माया दुरंत्यय है इसीसे जो मेरे शरणं होते हैं वे इसे मायाको तरते हैं ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मायासे हरा गया है ज्ञान जिनका ऐसे मनुष्य असुरपनेको प्राप्त हुए निंदित कर्म करनेवाले नरोंमें अधर्म मूर्ख मुझको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं च स च मे प्रियः १७

हे अर्जुन ! एक प्रकारके जो संसारसे दुःखी (आर्त) दूसरे जाननेकी इच्छा करनेवाले (जिज्ञासु) तीसरे धनादिक चाहनेवाले (अर्थार्थी) चौथे स्वरूपज्ञाता(ज्ञानी) ऐसे चार प्रकारके सुकृति जन मुझको भजंते हैं. हे भरतर्षभ ! उनमें ज्ञानी नित्य योगयुक्त मेरी मुख्य भक्तिवाला श्रेष्ठ है कारण कि, ज्ञानियोंको मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह मेरे अतिशय प्रिय हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

ये सब ही उदार हैं तो भी ज्ञानी मुझको पुत्रवत् प्रियं है ऐसा मेरा अभिप्राय है कारण कि, वह मुझमें ही चित्तको युक्त किये हुए सर्वोत्तम प्राप्ति मेरेको ही ध्याता है ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अनेक जन्मोंके अंतमें सब जगत् वासुदेवरूप है ऐसा ज्ञानवान् होता है याने वासुदेवात्मक जानकर ईर्षादिसे रहित होता है तब मुझको भजता है वह महात्मा अतिदुर्लभ है अर्थात् कोट्यवधिमें कोई एक होता है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥२०॥

दूसरे सब तो अपनी राजस तामस प्रकृति करके राजस तामस कर्मोंमें लगे हुए उन उन कामनाओंसे नष्टज्ञान हो उन उन पुत्रादिनिमित्त नियमोंको धारण करके अन्यदेवोंको भजते हैं ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

"तदेवाग्निस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः" इत्यादि श्रुतियोंके अर्थको स्पष्ट करनेवाली जो "यस्यादित्यः शरीरं" इत्यादि श्रुतियोंके अर्थ रूप इन श्लोकोंसे अन्य देवताओंका भी भगवान् आपहीके शरीरभूत दिखाते हैं—जैसे कि, जो जो भक्त जिस जिस इंद्रादिरूप

मेरे शरीरको श्रद्धाकरके अर्चनेको चाहता है उस उस भक्तको मैं वही अचलश्रद्धा धारण करता हूं वह भक्त उसी श्रद्धासे युक्त हो उसी इंद्रादिरूप मेरी मूर्तिका आराधन करता है और उसीसे मेरे ही करके नियमित किये हुए हित कामनाओंको प्राप्त होता है; परंतु उन अल्पबुद्धियोंको वह फल नाशवान् होता है जैसे कि, इंद्रादिदेवपूजनेवाले देवोंको प्राप्त होते हैं मेरे भक्त निश्चय मुझको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

मेरे अविनाशी सर्वोत्तम परस्वरूपको न जाननेवाले मूर्ख-लोग जो मैं सबके हृदयमें मूर्तिमान् प्राप्त मुझको अव्यक्त याने अमूर्ति मानते हैं तात्पर्य इसीसे अन्य देवोंको भजते हैं ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

यहां न जाननेका कारण यह है कि, योगमायासे आच्छादित मैं सबको दीखता नहीं हूं इसीसे यह मूर्ख जन अजन्मो अविनाशी मुझको नहीं जानता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन ! मैं जो प्रथम हुए उनको और हैं उनको और होंगे उन सर्वभूत प्राणिमात्रोंको जानता हूं, परंतु मुझको कोई भी नहीं जानता है ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं संगे यांति परंतप ॥ २७ ॥

हे भारत ! हे परंतप ! इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुख, दुःख

लाभ अलाभादि द्वंद्वरूप मोहसे सर्वभूत प्राणी संसारमें मोहको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

और जिन पुण्यकर्मवाले मनुष्योंका पाप नाशको प्राप्त हुआ है वे द्वद्व मोहसे छूटे हुए दृढव्रती मुझको भजते हैं ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

जो मेरे आश्रित होकर जरा मरण छूटनेके लिये यत्न करते हैं वे उस ब्रह्मको और सर्व अध्यात्मको सर्व कर्मको जानते हैं इन ब्रह्मशब्दादिकोंका स्पष्ट बोध आठवें अध्यायमें होगा ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जो मुझको अधिभूत और अधिदैवसहित और अधियज्ञसहित जानते हैं व मनुष्य और मुझमें नित्य चित्त लगाये हुए मरणकालमें भी मुझको जानते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां गीतामृत-तरंगिण्यां सप्तमाध्यायप्रवाहः ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच ।

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

जो सातवें अध्यायमें कहा था कि, जो जरामरणसे मुक्त होनेके वास्ते मेरा आसरा करके यत्न करते हैं वे उस ब्रह्मके तथा सब अध्यात्म और सब कर्मको जानते हैं इत्यादि सुनकर अर्जुन कृष्णसे पूँछते हैं—कि, हे पुरुषोत्तम ! जो आपने कहा वह ब्रह्म कौन है, अध्यात्म कौन है, कर्म क्या है और अधिभूत कौन कहलाता है और अधिदैव कौन कहलाता है ? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे मधुसूदन ! इस देहमें अधियज्ञ कैसे हुआ और कौन है और इस लोकमें मरणकालमें जिसने मन जीता है उससे कैसे जाननेमें आते हो ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् बोले—कि पर है प्रकृति जिससे याने प्रकृतिमुक्त जो अक्षर याने मुक्त जीव सो ब्रह्म हैं स्वभाव अध्यात्म कहलाता है जो सर्व भूतप्राणियोंका उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग याने सृष्टि सो कर्मसंज्ञक है॥ ३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

जो क्षर भाव याने नाशवान् देहादिक सो अधिभूत है और पुरुष जो सूर्यमंडलवर्ती सो मेरा ही एकरूप अधिदैवत है.

देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस देहमें अधियज्ञ मैं हूं यांने जीवका पूज्य मैं हूं ॥ ४ ॥

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

जो पुरुष अंतसमयमें मुझे ही स्मरण करता करता देहको त्यागके इस लोकसे जाता है सो मेरी समताको प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

जो मेरा सदा और अंतकालमें भी स्मरण करते करते शरीर त्यागे सो तो मुझहीको पावे अथवा जो जो भाव यांने वस्तु अथवा कोई प्राणीको सुमिरता सुमिरता सदा उसीमें लवलीन भया हुआ अंतमें देहको त्यागता है, सो हे कुंतीपुत्र ! वह उसी उसीको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

इस कारण सब कालमें मुझको सुमिरो और युद्ध करो; ऐसे मुझमें मन बुद्धिको लगाये हुए मुझे ही पाओगे, इसमें संदेह नहीं ॥७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नाऽन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

हे पृथापुत्र ! सदा अभ्यासयोगयुक्त आत्मस्वरूप विना दूसरेमें नहीं जानेवाला ऐसे चित्तकरके मेरा चिंतन करता करता देदीप्यमान अतिउत्तम ऐसा जो परमपुरुष मैं उस मुझमें लय होता है॥८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ॥ भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ९ ॥ १० ॥

जो कोई भक्तिकरके युक्त पुरुष मरणसमयमें अचल मनके द्वारा; और योगबलकरके भौंहोंके मध्यमें निश्चल अच्छी तरहसे प्राणोंको प्रवेश करके अर्थात् कुंभक करके जो सर्वज्ञ, पुरातन, सबका शिक्षक, सूक्ष्मसे सूक्ष्म, सर्वको पालनेवाला, नहीं चिंतनमें आता है रूप जिसका, सूर्य सरीखा है प्रकाशमान जो पुरुष और प्रकृतिसे पर उसको सुमिरता है सो उस पर देदीप्यमान पुरुषको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशंति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ११

वेदके जाननेवाले जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग ईश्वरप्राप्तिका यत्न करनेवाले जिसको प्राप्त होते हैं, जिसको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यको आचरते हैं, उस पदको तुमसे संक्षेपकरके कहूंगा ११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

जो योगी देहको त्यागता त्यागता सर्व इंद्रियोंको संयममें करके और हृदयमें मनको रोकके अपने प्राणोंको मस्तकमें चढाके योगधारणामें स्थिर भया हुआ 'ॐ' इस एक अक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता करता मुझको सुमिरता सुमिरता देह त्यागके जाता है सो अतिउत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः संततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पृथापुत्र ! जो अनन्यचित्त मुझको नित्य निरंतर सुमिरता है उस नित्य मेरे संयोग चाहनेवाले योगीको मैं सुलभ हूँ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

यहांसे अध्यायसमाप्तिपर्यंत ज्ञानी जो कैवल्यार्थी उसकी मुक्ति और ऐश्वर्य चाहनेवालेकी पुनरावृत्ति कहते हैं–सो ऐसे कि, जो मेरी उपासनारूप परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं वे महात्माजन मुझको प्राप्त होकर फिर दुःखके घर नाशवान् जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यंत सर्वलोक, पुनरावर्ती हैं और हे कुंतीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

ब्रह्मलोकपर्यंत पुनरावृत्ति देखनेको ब्रह्माके दिनरात्रिका प्रमाण दिखाते हुए उसको जाननेवालोंकी श्रेष्ठता कहते हैं–जो ब्रह्मांका-हजार चतुर्युगीपर्यंत दिन और हजार चतुर्युगीपर्यंत रात्रिको जानते हैं वे मनुष्य दिन रातके जाननेवाले हैं,याने दीर्घदर्शी हैं १७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

दीर्घदर्शित्व दिखाते हैं–सो ऐसे कि, ब्रह्माके दिनके आगममें

ब्रह्माके शरीरसे सर्व जीवोंके शरीर होते हैं रात्रिके आगममें उसी ब्रह्माके शरीरमें लीन होते हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पृथापुत्र ! वेही यह भूतप्राणीसमूह कर्मपरवश हुआ जन्म ले लेके रात्रिके आगममें लीन होता है, दिनके आगममें उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

उस ब्रह्माके जड़प्रकृतिशरीरसे श्रेष्ठ और जो अव्यक्त सनातन भाव है याने शुद्धचेतन है सो सर्व आकाशादि और शरीर नष्ट होनेसे भी नष्ट नहीं होता है ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

वह अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा है 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' उसको परमगति कहते हैं जिस शुद्धरूपको प्राप्त होके नहीं लौटते हैं वह मेरा सर्वोत्तम धाम है, याने जैसे प्रकृतिमें मेरा शरीर है और जीव भी मेरा शरीर है परंतु जैसे सर्व घर किसी पुरुषका है उसमें निजमंदिर श्रेष्ठ होता है तैसे जीव प्रकृतिमें और जीवमें मैं रहता हूँ इससे वह मेरा मुख्य शरीर है. यह कैवल्यमुक्ति कही, अब ऐश्वर्यप्राप्ति कहते हैं ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पृथापुत्र ! ये सर्व भूतप्राणी जिसके अंतस्थ हैं और यह सर्व

जगत जिसकरके विस्तारित है सो परं पुरुष याने परमात्मा अनन्यभक्ति करके प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ! जिस कालमें देहत्याग कर गये हुए योगी अनावृत्तिको और आवृत्तिको जाते हैं उस कालको मैं कहता हूं॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

जिस कालमें अग्नि प्रकाशक है तथा दिन शुक्ल पक्ष है ऐसे छः महीने उत्तरायण उसमें गये हुए ब्रह्मज्ञानी जन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५ ॥

जिस कालमें धूम रात्रि तथा कृष्णपक्ष छः महीने दक्षिणायन इसमें गया हुआ योगी चांद्रमस ज्योतिको याने स्वर्ग पाके यज्ञादि फल भोगके फिर यहाँ जन्म लेता है ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

ये शुल्क कृष्ण मार्ग जगतके सनातन नियमित हैं एककरके मुक्तिको जाता है दूसरेकरके फिर जन्मता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पृथापुत्र ! इन मार्गोंको जानता हुआ कोई भी योगी नहीं मोहित होता है.हे अर्जुन!इससे सर्व कालमें योगयुक्त हो ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैवं दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदि-
ष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं
स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

मनुष्य इसको जानके फिरं जो पुण्यफल वेदाध्ययनमें, यज्ञमें तपमें और दानमें कहा है उसे सबको अतिक्रमण करता है याने उससे भी अधिक फल पाता है, फिरं योगी होके सर्वोत्तम आदि स्थानको पाता है, याने मुक्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीगीतामृत-
तरंगिण्यामष्टमाऽध्यायप्रवाहः ॥ ८ ॥

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

सप्तम और अष्टम अध्यायोंमें अपनी स्वरूपप्राप्ति भक्तिसेही कही अब नवममें अपना सर्वोत्तम प्रभाव और भक्तिका भी प्रभाव कहते हैं—सो ऐसे कि, हे अर्जुन ! इस अतिगुप्त करनेयोग्य विज्ञानसहित ज्ञानकी असूया जो पराये गुणमें दोष लगाना उसकरके रहित जो तुम तिनसे कहूंगा जिसको जानके संसार-दुःखसे छूटोगे ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह भक्तिज्ञान राजविद्या और गोप्य वस्तुओंमें सर्वोत्तम पवित्र

अतिउत्तम प्रत्यक्षफलरूप धर्मयुक्त करनेको भी अतिसुगम और अविनाशी है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप अर्जुन ! इस धर्मसंबंधी श्रद्धाको न धारण करनेवाले पुरुष मुझको प्राप्त हुए विना मृत्युरूप संसारमार्गमें फिरते रहते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

यह सर्व जगत् अतिसूक्ष्म अंतर्यामीरूप मुझ करके व्याप्त है, इससे सर्वभूत प्राणी मेरे स्वाधीन हैं और मैं उनमें नहीं स्थित हूं याने उनके स्वाधीन नहीं हूँ और वे भूत प्राणी मुझमें स्थित नहीं हैं याने जैसे घड़ेमें जल तैसे नहीं हैं मेरे ईश्वरसंबंधी इस योगको देखो भूतोंका भरने पोषनेवाला भी मेरा आत्मा याने मेरा शरीरभूत जीवात्मा भूतोंको धारण करनेवाला और भूतोंमें स्थित नहीं है ॥ ४ ॥ ५ ॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे महान् वायु नित्य ही आकाशमें रहा हुआ मेरे आधारसे सर्वत्र विचरता है तैसे ही सर्व भूत मेरे आधार हैं ऐसे निश्चय करो ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

हे कुंतीपुत्र! प्रलयकालमें सर्व भूत प्राणी मेरी प्रकृतिमें लीन होते हैं, कल्पकी आदिमें मैं उनको फिर अनेक प्रकारसे उत्पन्न करता हूं ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको आश्रय देके प्राचीन स्वभावके वशसे परवश संपूर्ण इस भूत प्राणी समूहको वारंवार सृजता हूं ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो कहोगे कि,ऐसे विषमसृष्टि सृजनेवालेको विषमताके वैषम्यनिर्दयत्वदोष क्यों न लगेंगे ? तहाँ सुनो, जो सृष्ट्यादिक कर्म करता हूँ उन कर्मोंमें आसक्त और उदासीन सरीखा स्थित ऐसे मुझको वे कर्म बंधन नहीं करते हैं ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे कुंतीपुत्र ! जब मैं अध्यक्ष याने सर्वकृत्यका सम्हारनेवाला होता हूँ तब मुझ करके प्रकृति चराचर जगतको उत्पन्न करती है इस कारण करके जगत् उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमास्थितम् ।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

जो राक्षसी और आसुरी, आपसरीखी मोहकारक प्रकृतिको धारण कर रहे हैं याने ऐसे स्वभाववाले, निष्फल आशावाले,

निष्फल कर्मवाले, निष्फलज्ञानवाले वे भ्रष्टचित्त पुरुष जो सर्व भूतोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर ऐसे मेरे प्रभावको न जानते हुए मूर्ख अतिकरुणासे मनुष्यरूपशरीरमें स्थित मेरी अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

हे पृथापुत्र ! दैवी प्रकृतिको प्राप्त हुए महात्माजन मुझको सर्वभूतोंका आदि और अविनाशी जानके अनन्यमनवाले होकर मुझको ही भजते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्त्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

अब महात्माओंके भजनकी रीति कहते हैं-जैसे कि, निरंतर मेरा कीर्तन करते हुए और दृढसंकल्प किये हुए मेरी प्राप्तिके वास्ते यत्न करते और भक्तिकरके मुझको नमस्कार करते हुए नित्य मेरे समागमकी इच्छा करनेवाले मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

और कितनेक महात्मा एकत्वकरके याने सख्यभावसे और कितनेक पृथक्त्वसे याने दास्यभावसे ऐसे बहुधा याने कोई वात्सल्य और कोई शृंगार इत्यादि भावना करके सर्वतोमुख याने सर्वव्यापी मुझको ज्ञानयज्ञ करके पूजते हुए उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

अब अपना सर्वव्यापित्व दिखाते हैं-सो ऐसे कि, भगवान् कहते हैं कि, क्रतु याने अग्निष्टोमादिक श्रौत यज्ञ मैं हूं, यज्ञ जो

स्मार्त पंचमहायज्ञ सो मैं हूँ, स्वधा जो पितृनके श्राद्धादिकर्म सो मैं हूँ, औषध याने अन्न सो मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, आज्य याने घृत सो मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, होम मैं हूँ, यह निश्चय है ॥ १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

इस जगत्का पिता, माता, धाता, पितामह जो जानने योग्य सो और पवित्र है सो और ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस जगत्की गति, पालनकर्त्ता, स्वामी, शुभाशुभकर्मोंका साक्षी, रहनेका स्थान, इच्छितवस्तु देनेवाला और अनिष्टका निवारक सुहृद, उत्पत्ति और नाशका स्थान, धारणकरनेवाला, अविनाशी, उत्पत्तिकारक सर्व मैं ही हूँ ॥ १७ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! अग्नि और सूर्यरूप होके मैं ही तपाता हूँ मैं ही ग्रीष्मादि ऋतुओंमें वर्षाको बंद करता हूँ और वर्षाऋतुमें वर्षता हूं, अमृत और मृत्यु और सत् और असत् मैं निश्चय हूँ ॥१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते ॥ ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति ॥ एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभंते ॥ २१ ॥

इस तरहसे महात्मा ज्ञानियोंका व्यवहार और अपना वैभव कहा. अब सकाम जनोंकी रहनि रीति कहते हैं-जैसे कि, त्रैविद्या याने ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदोक्त इंद्रादिदेव निमित्त यज्ञ करनेवाले सोमपान किये हुए पापरहित यज्ञोंकरके इंद्रादिरूप मुझको आराधनकरके स्वर्गकी प्राप्ति मानते हैं वे पुण्यरूप इंद्रलोकमें प्राप्त होके वहां स्वर्गमें दिव्य देवभोगोंको भोगते हैं, फिर वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगके पुण्य क्षीण होनेसे इस मनुष्यलोकमें प्राप्त होते हैं. ऐसे वेदत्रयी धर्मको केवल वारंवार करते हुए सकामी जन गतागत याने स्वर्ग जाना मनुष्यलोकको आना फिर जाना फिर आना ऐसे फलको पाते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो मनुष्य अनन्य होकर मेरा चिंतवन करते मुझको भजते हैं उन नित्य मेरे संयोग चाहनेवालोंका योग जो धनादिककी और मेरी प्राप्ति क्षेम जो धनादि संरक्षण और अपुनरावृत्ति इनको मैं प्राप्त करता हूं ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

जो कि, औरदेवताओंके भक्त उनका श्रद्धायुक्त पूजन करते हैं वे भी मेरा ही पूजन करते हैं; परंतु हे कुन्तीपुत्र! वे अविधिपूर्वक पूजन करते हैं याने विधिपूर्वक नहीं ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

मैं निश्चय करके सर्व यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी हूं परंतु

स्मार्त पंचमहायज्ञ सो मैं हूँ, स्वधा जो पितृनके श्राद्धादिकर्म सो मैं हूँ, औषध याने अन्न सो मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, आज्य याने घृत सो मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, होम मैं हूँ, यह निश्चय है ॥ १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

इस जगत्का पिता, माता, धाता, पितामह जो जानने योग्य सो और पवित्र है सो और ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस जगत्की गति, पालनकर्त्ता, स्वामी, शुभाशुभकर्मोंका साक्षी, रहनेका स्थान, इच्छितवस्तु देनेवाला और अनिष्टका निवारक सुहृद, उत्पत्ति और नाशका स्थान, धारणकरनेवाला, अविनाशी, उत्पत्तिकारक सर्व मैं ही हूँ ॥ १७ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! अग्नि और सूर्यरूप होके मैं ही तपाता हूँ मैं ही ग्रीष्मादि ऋतुओंमें वर्षाको बंद करता हूँ और वर्षाऋतुमें वर्षता हूं, अमृत और मृत्यु और सत् और असत् मैं निश्चय हूँ ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं
प्रार्थयंते ॥ ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति
दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥ ते तं
भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं
विशंति ॥ एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं
कामकामा लभंते ॥ २१ ॥

इस तरहसे महात्मा ज्ञानियोंका व्यवहार और अपना वैभव कहा. अब सकाम जनोंकी रहनि रीति कहते हैं-जैसे कि, त्रैविद्या याने ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदोक्त इंद्रादिदेव निमित्त यज्ञ करनेवाले सोमपान किये हुए पापरहित यज्ञोंकरके इंद्रादिरूप मुझको आराधनकरके स्वर्गकी प्राप्ति मानते हैं व पुण्यरूप इंद्रलोकमें प्राप्त होके वहां स्वर्गमें दिव्य देवभोगोंको भोगते हैं, फिर वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगके पुण्य क्षीण होनेसे इस मनुष्यलोकमें प्राप्त होते हैं. ऐसे वेदत्रयी धर्मको केवल वारंवार करते हुए सकामी जन गतागत याने स्वर्ग जाना मनुष्यलोकको आना फिर जाना फिर आना ऐसे फलको पाते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो मनुष्य अनन्य होकर मेरा चिंतवन करते मुझको भजते हैं उन नित्य मेरे संयोग चाहनेवालोंका योग जो धनादिककी और मेरी प्राप्ति क्षेम जो धनादि संरक्षण और अपुनरावृत्ति इनको मैं प्राप्त करता हूँ ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

जो कि, औरदेवताओंके भक्त उनका श्रद्धायुक्त पूजन करते हैं वे भी मेरा ही पूजन करते हैं; परंतु हे कुन्तीपुत्र ! वे अविधिपूर्वक पूजन करते हैं याने विधिपूर्वक नहीं ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

मैं निश्चय करके सर्व यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी हूं परंतु

व सकामिक जन मुझको ऐसे निश्चय करके नहीं जानते हैं इससे जन्म मरणको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम्॥

अहो जो कहोगे कि, एक ही कर्ममें संकल्पमात्रसे कैसे भेद हुआ तहां सुनो जो इंद्रादि देवोंको भक्तिपूर्वक आराधन करते हैं तो उनहीको प्राप्त होते हैं, पितृभक्त पितरोंको प्राप्त होते हैं, जो कोई भी राजा साधु चोर इत्यादि भूत प्राणीकी सेवा संगति करते हैं वे उनहीकी समताको प्राप्त होते हैं; जो मेरी भक्ति करते हैं वे निश्चय मुझको प्राप्त होते हैं याने मेरी समताको पाते हैं॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

यदि कहो कि, बडोंको प्रसन्न करनेके लिये बडे उपाय चाहिये तो–जो कोई पत्र, पुष्प, फल, जल मुझको भक्तिसे अर्पण करता है मैं उस शुद्धचित्त भक्तके भक्तिपूर्वक अर्पणे किये हुए उस पत्रादिके पदार्थको स्वीकार करता हूँ ॥ २६ ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

हे कुंतीपुत्र ! मुझको ऐसा सुलभ जानकर जो कुछ भी तुम करो, जो खाओ, जो हवन करो, जो देओ, जो तप करो उसको मेरे अर्पण किये हुए करो; ऐसे करते हुए जो कर्मबंधनकारक हैं उन शुभाशुभ फल कर्मों करके छूटोगे ऐसे ही इस कर्मफल अर्पण संन्यासयोगयुक्त चित्तवाले तुम मुक्त भये हुए मुझको प्राप्त होवंगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् २९

मैं सर्वभूतोंपर सम हूं मुझे न कोई अप्रिय न कोई प्रिय है परंतु जो मुझको भक्तिकरके भजते हैं वे मेरे हृदयमें और उनके हृदयमें निश्चय करके मैं रहता हूं ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

क्वचित् कोई पुरुष अति दुराचारी भी हो और वह मुझको अनन्यभाक् याने औरको न भाग देता हुआ सर्वत्र मुझकोही जानकर सब मेरे अर्पण करता हुआ भजता हो वह साधु ही है ऐसे मानना चाहिये, जिससे कि वह सम्यक् निश्चय किये है उससे वह शीघ्र ही धर्मात्मा होगा और मोक्षको ही प्राप्त होगा.हे कुन्तीपुत्र ! तुम यह निश्चय जानो कि मेरा भक्त नाशको नहीं पाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्३३॥

हे पृथापुत्र! निश्चयपूर्वक मुझको आश्रय करके जो पापयोनि भी हो तथा स्त्री शूद्र वैश्य वे भी मोक्ष पाते हैं. जो पवित्र ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भक्त हैं उनकी मोक्षमें फिर क्या शंका है ? इससे अनित्य दुःखरूप इस लोकको पाकर मुझको भजो३२।३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्य-
योगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

भजनेकी रीति यह है कि,मुझमें ही मनको युक्त किये हुए रहो, मेरे ही भक्त मेरा ही पूजन करनेवाले बनो मुझे ही नमस्कार करो; ऐसे मनको मुझमें युक्तकरके मेरे ही परायण हुए मुझको ही प्राप्त हो जाओगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीगीतामृततरं-
गिण्यां नवमाध्यायप्रवाहः ॥ ९ ॥

सप्तमादिक तीनों अध्यायोंमें श्रीकृष्णजीने अपना भगवत्तत्त्व और विभूति वर्णन की. जैसे कि, सप्तममें "रसोऽहमप्सु कौंतेय" अष्टममें "अधियज्ञोऽहमेवात्र" इत्यादि, नवममें "अहं क्रतुः" इत्यादिकरके संक्षेपसे कहीं उनको और भक्तिकी आवश्यकता अब दशमाध्यायमें विस्तारसे कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१॥

श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं-कि, हे महबाहो ! मेरा सर्वोत्तम वाक्य फिर भी सुनो; जो वाक्य प्रीतियुक्त जो तुम तिन तुमसे तुम्हारे हितके वास्ते मैं कहता हूं ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मेरा जन्म हुआ ऐसा न देव और महर्षि भी नहीं जानते हैं, कारण कि, मैं देवोंका और सब महर्षियोंका भी आदि हूं ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो मुझको अजन्मा और अनादि लोकमहेश्वर जानता है वह मनुष्योंमें ज्ञानी, सब पापोंकरके छूटा है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, अव्याकुलता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय और अभय और अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अयश ये पृथक् पृथक् भूतोंके भाव मुझसे ही होते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोके इमाः प्रजाः ॥६॥

सात महाऋषि अर्थात् मरीचि वसिष्ठादिक महाऋषि, चार इनके भी पूर्वज याने सनकादिक ऋषि तथा चौहद मनु मेरे संकल्पज मन इच्छा प्रमाण उत्पन्न हुए जिनके लोकमें ये प्रजा हैं६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष मेरी महर्षि इत्यादिकोंकी उत्पत्तिरूप इस विभूतिको

और कल्याणगुणादिरूप योगको तत्त्वसे जानता है सो अचल भक्तियोगकरके मुक्त होता है इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूं मुझसे सब प्रवृत्त होता है ऐसा मुझको मानकर भावसंयुक्त ज्ञानी जन मुझको भजते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥ ९ ॥

उनका भजनप्रकार यह है कि-मुझमें ही जिनका चित्त है, श्वासोच्छ्वास पर मेरा स्मरण करते रहते हैं, परस्पर एक दूसरेको उपदेश करते हुए निश्चयपूर्वक मुझको याने मेरे ही गुणगणोंको कहते कहते निरंतर संतुष्ट होते हैं और मेरी की हुई क्रीडायें करने लगते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥

इस प्रकार वे निरंतर मेरे संगी मुझको प्रीतिपूर्वक भजनेवाले उनको उस बुद्धियोगको देता हूँ कि, जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

उनकी ही दयाके लिये उनकी मनोवृत्तिमें स्थित हुआ मैं प्रकाशित ज्ञानरूप दीपकसे उनके अज्ञानजन्य तिमिरका नाश करता हूं ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

ऐसे श्रीकृष्णजीके वाक्य सुनके अर्जुन बोले-कि, आप पर-ब्रह्म हो, श्रेष्ठ प्रभाव हो, पवित्र हो; परम सर्व ऋषिजन आपको अविनाशी दिव्य पुरुष आदिदेव अजन्म व्यापक ऐसे कहते हैं, वे ये जैसे कि, देवऋषि नारद तथा असित देवल व्यास और आप भी मुझसे कहते हो ॥ १२ ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! जो मेरेसे कहते हो यह सर्व सत्य मानता हूं, कारण कि, हे भगवन् ! तुम्हारी उत्पत्तिको न देवता जानते हैं न दानव जानते हैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम ! हे भूतभावन ! हे भूतेश ! हे देवदेव ! हे जगत्पते आप आपको आपकीही बुद्धिसे आपही जानते हो ॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि १६

जो दिव्य आपकी विभूति हैं उनको समग्रतासे कहनेको योग्य हो जिन विभूतियोंकरके इन लोकोंमें व्यापक रहे हो ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगी त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

मैं भक्तिसमाधिस्थ हुआ आपको सदा ध्याता हुआ कैसे जानूं, हे भगवन् ! आप मुझकरके कौन कौनसे रूपोंमें ध्याने-योग्य हो ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् १८

हे जनार्दन ! अपनी प्राप्तिका उपाय और विभूति याने वैभव है सो विस्तारसे फिर कहो याने संक्षेपसे कहा, अब विस्तारसे कहो, क्योंकि, इस अमृतरूप माहात्म्यको सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे १९॥

ऐसे सुनके भगवान् बोले—कि, हंत याने हे अर्जुन ! तुम्हारेसे दिव्य अपनी विभूतियोंको प्रधानतासे याने मुख्य मुख्य कहूँगा क्योंकि, हे कुरुश्रेष्ठ ! मेरे विस्तारको अन्त नहीं ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥

हे गुडाकेश! सर्व भूतोंके अंतःकरणमें स्थित हुआ मैं सर्वभूतोंका अंतर्यामी हूँ और मैं ही आदि और मध्य और अंतभी हू अब यहांसे मैं मैं कहते जायँगे. यहां ऐसा अर्थ करना कि, जैसे आदित्योंमें विष्णु नाम आदित्य मैं हू ऐसे कहनेसे यह हुआ कि, विष्णु आदित्य मेरी श्रेष्ठ विभूति है, याने उसमें मेरी शक्ति ज्यादा है. ऐसा ही जहां मैं ही हूँ शब्द आवे तहां समझना. विशेष गीतावाक्यार्थबोधिनी टीकामें मैंने लिखा है, वहां श्रुतिस्मृतियोंका भी प्रमाण दिया है सो देख लेना ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

द्वादश आदित्योंमें विष्णुनाम आदित्य मैं हूं, ज्योतियोंमे किरणवंत सूर्य उनचास मरुतोंमें मरीचि मरुत, नक्षत्रोंमें चंद्रमा मैं हूं ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदोंमें सामवेद हूं देवोंमें इंद्र हूं और इंद्रियोंमें मन हूं भूतप्राणियोंमें चेतना हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रोंमें शंकर हूं, यक्षराक्षसोंमें कुबेर, अष्टवसुओंमें अग्नि, शिखरवालोंमें मेरुपर्वत मैं हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

हे पृथापुत्र ! पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति मुझको ही जानो सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिक, सरोवरोंमें समुद्र मैं ही हूं २४।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

महर्षियोंमें भृगु, वाक्योंमें एक अक्षर याने "ओम्" मैं हूं यज्ञोंमें जपयज्ञ, स्थावरोंमें हिमाचल हूं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

सर्ववृक्षोंमें पीपर और देवऋषियोंमें नारद, गंधर्वोंमें चित्ररथ, सिद्धोंमें कपिलमुनि हूं ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि मामममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

घोडोंमें अमृतसे उत्पन्न उच्चैःश्रवाको, हाथियोंमें ऐरावतको और मनुष्योंमें राजा मुझे ही जानो ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

आयुधोंमें वज्र, धेनुओंमें कामधेनु मैं हूँ, उत्पत्तिकारक कामदेव हूँ, एकशिरवाले सर्पोंमें वासुकिसर्प मैं हूँ ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

अनेक शिरवाले सर्पोंमें शेषजी मैं हूँ, जलजीवोंमें मैं वरुण हूँ पितरोंमें अर्यमा, शासन करनेवालोंमें मैं यम हूँ ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्योंमें प्रह्लाद हूँ अनर्थकारकोंकी गिनतीकारकोंमें मैं काल हूँ, मृगोंमें मैं सिंह हूँ पक्षियोंमें गरुड हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥३१॥

पवित्रकारकोंमें पवन हूँ, शस्त्रधारियोंमें राम साक्षात् मैं हूं यहां अस्त्रधारणमात्र विभूति है, मच्छोंमें मकर हूं, प्रवाहवालोंमें श्रीभागीरथी हूँ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सर्ग जो ब्रह्माके दिवस उनमें आदि उत्पत्तिकारक, अंत प्रलयकारक और मध्य रक्षक भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन ! सर्वविद्याओंमें अध्यात्मविद्या, वाद करनेवालोंमें वाद याने सिद्धांत मैं हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ३३॥

अक्षरोंमें अकार हूँ, समासोंमें द्वंद्वसमास; अक्षय कालमें चौतरफ मुख जिसके ऐसा सबोंको भरनेपोषनेवाला मैं हूं ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा३४

सर्वका हरनेवाला मृत्यु मैं और अपनी बढ़ती चाहनेवालोंमें उद्भव याने बढती मैं हूं स्त्रीजनोंमें कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति,मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

तैसे सामवेदके मंत्रोंमें बृहत्साम, छंदोंमें गायत्रीमंत्र मैं हूं महीनोंमें मार्गशीर्ष, ऋतुओंमें वसंत मैं हूं ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोस्मि व्यवसायोस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्३६

छलकारियोंमें जूवा और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूं जीतनेवालोंमें जय हूं,निश्चयवालोंमें निश्चय हूं, उदारोंमें उदारता मैं हूं३६

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव यहां वसुदेवपुत्रत्वमात्र विभूति जानना पांडवोंमें अर्जुन तुम हो; सो श्रेष्ठ विभूति हो. इससे तुम

भी मैं हूँ; मुनियोंमें व्यास मैं हूँ, कवि जो शास्त्रदर्शी उनमें शुक्राचार्य कवि मैं हूँ ॥ ३७ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

स्ववशकर्ताओंमें दंड हूँ, जय चाहनेवालोंमें नीति हूँ गुप्त-करनेके उपायोंमें मौन हूँ, ज्ञानियोंमें ज्ञान हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥

हे अर्जुन ! सर्वभूतोंका जो आदिकारण है सो मैं हूँ, जो चराचर भूत मेरे विना होयँ सो नहीं है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अंत नहीं है परंतु यह विभूतिका विस्तार मैंने संकेतमात्रसे कहा है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

जो जो प्राणी ऐश्वर्यवान्, शोभायमान अथवा बडा हो सो सो मेरे तेजके अंशयुक्त है ऐसे तुम जानो ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो
नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

हे अर्जुन! अथवा इस बहुत ज्ञानकरके तुम्हारे क्या प्रयोजन है मैं इस सर्व जगत्को एक अंशकरके धारण किये हुए स्थितहूं ४२

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां
श्रीगीतामृततरंगिण्यां दशमाध्यायप्रवाहः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

जब भगवान्ने अपनी विभूति कही और उसमें अपने स्वरूपका वर्णन किया तब सुनके अर्जुन देखनेकी इच्छा करके बोले कि हे भगवन्! मेरे अनुग्रहके वास्ते सर्वोत्तम गोप्य अध्यात्मसंज्ञित याने आत्मज्ञानविषयक जो वचन आपने कहा उससे मेरा यह मोह गया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

कारण कि, हे कमलदलनयन! भूतप्राणियोंके उत्पत्ति, प्रलय आपसे मैंने विस्तारपूर्वक सुने और आपका अक्षय माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर! तुम अपने आपको जैसे कहते हो यह ऐसा ही है, हे पुरुषोत्तम! तुम्हारे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज इन छः ऐश्वर्ययुक्त रूपको देखनेको मैं चाहता हूं ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो ! जो वह रूप मुझकरके देखनेको योग्य है ऐसा मानते हो हे योगेश्वर ! तो तुम अविनाशी अपने रूपको मुझको दिखाओ ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥

ऐसे वचन सुनके भगवान् बोले-कि, हे पृथापुत्र!सैकेडों फिर हजारों अनेक प्रकारके दिव्य और अनेक वर्ण आकारके मेरे रूपोंको देखो ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे भारत ! मेरी देहमें द्वादश सूर्य अष्ट वसु ११ रुद्र अश्विनी-कुमार२,४९ मरुत् देखो तथा जो प्रथम न देखे ऐसे बहुत आश्चर्य देखो हे गुडाकेश ! इस मेरे देहमें सचराचर सब जगत् एक ही ठिकाने इकट्ठ आज देखो और जो और भी देखनेको चाहते हो उसे भी देखो ॥ ६ ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

इस अपनी दृष्टिकरके मुझको देखनेको न समर्थ होगे इससे तुमको दिव्य नेत्र देता हूं तिस करके मेरे ईश्वरसंबंधी योगको देखो ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते भये-कि हे राजन् ! महायोगेश्वर श्रीकृष्ण ऐसे कहके फिर सर्वोत्तम ईश्वरसंबंधी रूप अर्जुनको दिखाते भये ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

जिस रूपमें अनेक मुख और नेत्र हैं और अनेक अद्भुत दर्शन हैं अनेक दिव्य आभूषणयुक्त हैं और दिव्य अनेक उठाये हैं आयुध जिसने ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्य माला और वस्त्र धारण किये हैं दिव्य चंदनादि गंधका लेपन किये हैं सर्व आश्चर्यमय प्रकाशमान अंतरहित और सब ओर जिसमें मुख हैं ऐसा रूप अर्जुनको दिखाते भये ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

जो आकाशमें हजारों सूर्योंका एक समयमें उत्पन्न भया हुआ तेज हो सो तेज उन महात्मा भगवान्के तेजके समान हो ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥

उस देवोंके भी प्रकाशक श्रीकृष्णके शरीरमें उस समयमें अनेक प्रकारका न्यारा न्यारा एकही ठिकाने इकट्ठा ऐसे सर्व जगतको अर्जुन देखते भये ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

तब विस्मय करके व्याप्त रोमांचयुक्त वह अर्जुन कृष्णको मस्तकसे प्रणाम करके हाथ जोडे हुए बोले ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ॥ ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुन कहते हैं–कि, हे देव ! तुम्हारे शरीरमें देवोंको तथा सर्व भूत प्राणियोंके समूहोंको तथा ब्रह्माको और कमलासन जो ब्रह्मा उनमें स्थित जो ईश्वर यांने आप ही उनको और सर्व ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देखता हूं ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ॥ नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! तुमको सर्व ओरसे अनेक भुजा उदर मुख और नेत्रवाले अनंतरूप देखता हूं तुम्हारा न अन्त न मध्य न फिर आदि देखता हूं ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ॥ पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

तुमको किरीटवान् गदावान् चक्रवान् और तेजकी राशि सर्व ओरसे प्रकाशमान सर्व ओरसे दुर्निरीक्ष्य प्रदीप्त अग्नि और सूर्योंकी कांतिसरीखी कांतिमान् और अपरिमितरूप देखता हूं ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं
निधानम् ॥ त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सना-
तनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

मुमुक्षु जनोंकरके जानने योग्य सर्वोत्तम विष्णु आप हो इस
विश्वके श्रेष्ठ आधार आप हो सनातनधर्मके रक्षक अविनाशी
आप हो सनातन पुरुष आप हो यह मैंने जाना है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंतबाहुं शशिसूर्यने-
त्रम् ॥ पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा
विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

नहीं है आदि,मध्य और अंत जिनके अनंत हैं पराक्रम जिनके
अनंत हैं भुजा जिनके चंद्र सूर्य नेत्र हैं जिनके प्रदीप्त है अग्निस-
दृश मुख जिनके जो आपके तेजकरके इस विश्वको तपायमान
कर रहे हो ऐसे तुमको देखता हूं ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च
सर्वाः ॥ दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्य-
थितं महात्मन् ॥ २० ॥

हे महाशरीर ! द्यावापृथिवीका यह अंतर याने इस ब्रह्मांडका
पोल आप एक करके व्याप्त है और सर्व दिशा व्याप्त हैं अर्थात्
ऊंचाई करके ब्रह्मांड पोल और चौड़ाई करके सर्व दिशा पूर गयी
हैं ऐसे आपके इस अद्भुत उग्र रूपको देखके तीनों लोक याने
तीनों लोकोंके वासी देव मनुष्यादिक व्याकुल हैं ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्राञ्ज-
लयो गृणंति ॥ स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

ये देवताओंके समूह आपके समीपें प्राप्त हुए हैं कितनेक भयभीत हाथ जोरे हुएँ तुम्हारे गुण नाम उच्चारण करते हैं महर्षि और सिद्धोंके समूह स्वस्ति ऐसे कहके अनेक प्रकारकी स्तुतियों करके तुम्हारी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ॥ गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

एकादश रुद्र द्वादश आदित्य अष्ट वसु और जो साध्य नामक उपदेव तेरह विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उंचाश मरुत् और पितर और गंधर्व यक्ष देवता और सिद्ध इनके समूह ये सर्व विस्मित हुए तुमको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्। बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो! बहुत हैं मुख और नेत्र जिसमें, बहुत हैं भुज जांघ और चरण जिसमें बहुत हैं उदर जिसमें बहुत दाढों करके विकराल ऐसे तुम्हारे महत् रूपको देखके लोक व्याकुल हैं तैसेही मैं भी व्याकुल हूं ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ॥ दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥ दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि॥ दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥ अमी च त्वां (दृष्ट्वा दिशो न जानंति शमं न

लभंते इति पूर्वेण पंचविंशतितमेन पद्येनान्वयः)
धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।भीष्मो
द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योध-
मुख्यैः ॥ २६ ॥ वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ॥ केचिद्विलग्ना
दशनांतरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

हे विष्णो ! नभ जो प्रकृतिसे परे परम आकाश वैकुंठ तहां पर्यंत है स्पर्श जिनका जो प्रकाशमान अनेक वर्णयुक्तरूप तथा मुख फैलाये प्रदीप्त और विशाल नेत्र ऐसे आपको देखके जिससे कि, व्याकुलचित्त होकर धीरजको और शांतिको नहीं प्राप्त होता हूं और डाढें हैं कराल जिनमें और कालानलके तुल्य हैं ऐसे तुम्हारे मुखोंको देखके ही दिशाओंको नहीं जानता हूं और सुखको भी नहीं प्राप्त होता हूं और राजाओंके समूहों करके सहित ये सब धृतराष्ट्रके पुत्र तथा भीष्म द्रोण यह कर्ण और हमारे योद्धाओंमें मुख्य जो हैं उनकरके सहित तुमको (देखके दिशाओंको नहीं जानते हैं और सुखको नहीं प्राप्त होते हैं "ऐसे प्रथमके पच्चीसवें श्लोककरके अन्वय है") ये सब अतिवेगको प्राप्त हुये डाढें हैं कराल जिनमें ऐसे भयानक आपके मुखोंमें प्रवेश करते हैं कितनेक चूर्णित होकर मस्तकोंकरके सहित तुम्हारे दांतोंकी संधियोंमें पटके हुए दीखते हैं इससे हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप कृपा करो याने हम सब डरते हैं इससे आप प्रथम सरीखे सौम्यरूपको धारण करो ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा
द्रवंति ॥ तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्रा-
ण्यभितो ज्वलन्ति ॥ २८ ॥

जैसे नदियोंके बहुतसे पानीके वेग समुद्रकेही संमुख धांवते हैं वैसे ये नरलोकवीर तुम्हारे प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते हैं२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः॥ तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे अतिवेगवंत पतंग अपने ही नाशके वास्ते प्रदीप्त अग्निमें प्रवेश करते हैं तैसे ही अतिवेगवंत ये लोग भी अपने विनाशके वास्ते तुम्हारे मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ॥ तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥

हे विष्णो ! प्रज्वलित अपने मुखोंकरके सर्व लोगोंको सब ओरसे घेरते हुए चाटे जाते (खाये जाते) हो तुम्हारे उग्र प्रकाश सब जगत्को अपने तेजसे परिपूरित करके तप रहे हैं३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ॥ विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

हे देववर ! ऐसे उग्ररूप आप कौन हो सो मुझसे कहो,क्योंकि तुम्हारी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता हूँ जो आप आदि हो उनको जाननेकी इच्छा करता हूं आप कृपा करो आपको नमस्कार हो ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः ॥ ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

ऐसे सुनके श्रीकृष्ण भगवान् बोले-कि,मैं इन लोगोंके क्षयके वास्ते बढ़ा हुआ काल हूं यहां इन लोगोंको संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूं जो ये योधा तुम्हारी शत्रुसेनाओंमें खडे हैं ये सब तुम्हारे विना निश्चयपूर्वक न रहेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥ मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

हे सव्यसाचिन् हे अर्जुन ! जिससे कि ये मरेहींगे इससे तुम उठो यश लो शत्रुओंको जीतकर समृद्ध राज्यको भोगो प्रथम ही ये सब मैंने मार रखे हैं तुम तो निमित्तमात्र होओ ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ॥ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोण और भीष्म और जयद्रथ और कर्ण तथा और भी शूर वीर मेरे मारे हुए इनको तुम मारो मत दुःखित होओ रणमें शत्रुओंको जीतोगे युद्ध करो ॥ ३४ ॥

संजय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी॥ नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं-कि, किरीटी जो अर्जुन वह श्रीकृष्णके इतने वचन सुनके कांपते कांपते हाथ जोड़े हुए नमस्कार करके फिर भी भयभीत हो प्रणाम करके गद्गदकंठयुक्त श्रीकृष्णसे बोले ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ॥ रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन कहते हैं-कि, हे हृषीकेश ! तुम्हारी उत्तम कीर्तिकरके जगत् आनंदित होता है और आपसे प्रीति करता है, राक्षस भयको प्राप्त होकर सब दिशाओंको भागते हैं और सब सिद्धसमूह नमस्कार करते हैं सो यह योग्य ही है ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ॥ अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! ब्रह्मासे भी बडे आदिकर्त्ता जो आप ऐसे आपको वे क्यों न नमन करें अर्थात् करें हीं गे। हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो अक्षर याने जीवतत्त्व सत् जो कार्य स्थूलप्रकृति असत् जो सूक्ष्मप्रकृति कारण तत्पर जो शुद्ध आत्मा सो सब आप हो अर्थात् सबके अंतर्यामी हो ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥ वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव पुराण पुरुष हो तुम इस विश्वके परम आधार हो इसके जाननेवाले और जानने योग्य और इसके सर्वोत्तम वासस्थान हो" हे अनंतरूप ! यह विश्व तुमसे व्याप्त है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः पितामहस्त्वं प्रपि-

तामहश्च ॥ नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुन-
श्च भूयोपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

पवन अग्नि यम वरुण चंद्र पितामह और प्रपितामह तुम हो इससे तुमको हजारों वार नमोनमः हो फिर और फिर भी तुमको वारंवार नमस्कार है ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत
एव सर्व ॥ अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समा-
प्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे सर्व ! तुमको अगाड़ी और पिछाड़ीसे नमस्कार और तुमको सब ओरसे भी नमस्कार हो । हे अनन्तवीर्य ! आप अनंत बल और अमित पराक्रम तुम सबमें व्यापक हो इसीसे तुम सर्वरूप हो ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे
सखेति ॥ अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादा-
त्प्रणयेन वाऽपि ॥ ४१ ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतो
ऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु॥एकोऽथवाऽप्यच्युत
तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

हे अच्युत ! तुम्हारी महिमाको और इस विश्वरूपको न जाननेवाला जो मैं उसे मैंने प्रमादसे अथवा प्रणयसे भी सखा ऐसे मानके हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! ऐसे हठसे जो कहा हो और क्रीडा शयन आसन तथा भोजनकालमें अकेला अथवा और उन सखाओंके संमुख हँसीके वास्ते जो आपका अपमान किया हो सो परिमितिरहित जो आप उनें आपसे मैं क्षमा कराता हूं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्॥ न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥ तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ॥ पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

हे सर्वोत्तमप्रभाव ! आप इस चराचर लोकके पिता हो और सब गुरुओंसे बडे गुरु हो इसीसे पूज्य हो तीनों लोकमें भी आपके समान और नहीं है तो कहांसे और अधिक होगा इससे मैं शरीरको पृथिवीपर धारण किये हुए प्रणाम करके ईश्वर अतः स्तुति करनेयोग्य आपको प्रसन्न करता हूं, हे देव ! जैसे पुत्रके प्रियके वास्ते पिता, सखाके प्रियके वास्ते सखा ऐसे मेरे प्रिय आप हो सो मेरे प्यारके वास्ते मेरे अपराध सहनेको योग्य हो ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ॥ तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

जो रूप मैंने और किसीने भी प्रथम नहीं देखा था उसको देखकर चकित हुआ हूं और भयसे मेरा मन व्याकुल है, हे देव ! मुझको वही प्रथमका रूप दिखावो हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप मुझपर प्रसन्न हो ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ॥ तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥ ४६ ॥

हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्त्ते !! मैं वैसा ही किरीटयुक्त गदायुक्त चक्रहस्त आपको देखना चाहता हूं इस वास्ते उसी चतुर्भुज रूपकरके युक्त होओ ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥ तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

ऐसी अर्जुनकी प्रार्थना सुनके भगवान् बोले–कि, हे अर्जुन ! जो तेजोमय विश्वरूप अंतरहित सर्वका आदि तुम्हारे विना और किसीने नहीं प्रथम देखा सो यह पर रूप प्रसन्न मैंने स्वकीय सत्यसंकल्परूप योगसे तुमको दिखाया ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ॥ एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ वीर ! ऐसे रूपको मैं इस मनुष्यलोकमें तुम्हारे विना औरोंको न वेदपाठ, यज्ञ और मंत्रजपकरके, न दानकरके और न योगक्रियाकरके, न उग्र तपकरके दिखानेको योग्य हूँ ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ॥ व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

ऐसे घोर मेरे इस रूपको देखकर तुमको व्यथा मत हो और मोहभाव भी मत हो, भयरहित प्रसन्नमन तुम वही यह मेरा रूप फिर देखो ॥ ४९ ॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ॥ आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं–कि, वसुदेवपुत्र कृष्ण ऐसें अर्जुनको कहकर पूर्ववत् अपने रूपको फिर दिखाये और जो बडे शरीरयुक्त थे सो सौम्यरूप होके फिर भयभीत अर्जुनको आश्वासन देने लगे ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

तब अर्जुन बोले–कि, हे जनार्दन ! तुम्हारे इस सौम्य मानुष रूपको देखके अब सचेत हुआ अपने स्वभावको प्राप्त हुआ सावधान हूं ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥

अर्जुनके वाक्य सुनकर श्रीकृष्ण बोले–कि, हे अर्जुन ! जो अतिदुर्लभदर्शन इस मेरे रूपको तुम देखे इस रूपके देवता भी निरंतर दर्शनाभिलाषी रहा करते हैं ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! जैसे मुझको तुम देखते हुएं इस प्रकारका मैं नं वेदोंकरके नं तपकरके नं दानकरके और नं यज्ञकरके देखनेके योग्य हो सकता हूं। क्योंकि, हे परंतप ! ऐसा मैं अनन्य भक्तिकरके निश्चयपूर्वक जाननेको और देखनेको समीप प्राप्त होनेके भी योग्य हो सकता हूं ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

हे पांडव ! जो मनुष्य मेरे लिये लौकिक वैदिक सब कर्म करता है मुझेको ही सबसे अतिउत्तम मानता है मेरा ही भक्त है मेरे संबंध विना अन्यसंगोंकरके रहित है और सर्वभूत प्राणियोंमें निर्वैर है सो मुझको प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यामेकादशाऽध्यायप्रवाहः ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

ऐसे प्रथम आत्मज्ञानकी महिमा श्रीकृष्णजीने वर्णन की और कहा कि मैं भक्तिसे ही जानने तथा देखनेमें और प्राप्त होनेमें आता हूँ सो दोनोंको सुनके अर्जुन पूँछते हैं-कि; निरंतर भक्तियोगयुक्त हुए जो भक्त ऐसे जो आपने पीछेकी अध्यायके अंतमें कहा है तैसे आपकी उपासना करते हैं और जो इंद्रियोंके अदृश्य अक्षर याने आत्मस्वरूप उसकी उपासना

करते हैं उनें दोनोंमें अतिश्रेष्ठ कौन हैं, आत्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं कि, आपके उपासक श्रेष्ठ हैं सो कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

ऐसा अर्जुनका प्रश्न सुनके श्रीकृष्ण भगवान् बोले–कि, जो निरंतर भक्तियोगयुक्त हो मुझमें मनको लगाके परम श्रद्धाकरके युक्त मुझको भजते हैं वे योगियोंमें श्रेष्ठ मेरे मान्य हैं ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ॥ सर्वत्रगम-चिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ सन्नियम्येन्द्रिय-ग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ॥ ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम-व्यक्तासक्तचेतसाम् ॥ अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

जो कोई इंद्रियसमूहको नियममें रखके सर्वत्र समबुद्धि सर्व-भूतोंके हितमें रत हुए अनिर्देश्य याने देवादिशरीरोंकरके कहनेमें न आवे ऐसे अव्यक्त याने इंद्रियगोचर नहीं " सर्वत्रगं " याने, सर्वत्र देवादिशरीरोंमें रहनेवाला अचिन्त्य याने ध्यानमें न आवे और कूटस्थ याने सर्वत्र एकसा रहे अचल याने स्वस्वरू-पहीमें स्थिर इसीसे नित्य ऐसे अक्षरको याने आत्मस्वरूपको भजते हैं अर्थात् आत्मस्वरूपहीका अनुसंधान करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त होते हैं परन्तु आत्मज्ञानें दशा दुःखपूर्वक देहधारियों करके प्राप्त होती है इससे उनें अव्यक्तासक्तचित्तोंको अतिशय क्लेश है ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे पृथापुत्र ! जो कोई सर्व कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मेरे ही शरण भये हुए अनन्य भक्तियोगकरके मुझको ध्यावते पूजते हैं ऐसे मुझमें लगाया है चित्त जिन्होंने उनका मैं थोडेही कालमें मृत्युदुःखरूप संसारसागरसे उद्धारकर्ता होऊँगा ॥ ६ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

इससे तुम मुझमें ही मनको लगावो, मुझमें ही बुद्धिको लगावो इस मन, बुद्धिके लगाये पीछे मेरे ही समीप रहोगे इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो कदाचित् मुझमें चित्तको स्थिर समाधान कर नहीं सकते हो तो अभ्यासयोगकरके मेरे प्राप्त होनेको इच्छते रहो ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

जो अभ्यासमें भी असमर्थ होओ तो मेरे पूजनादिक कर्मोंमें मुख्य स्थिर होउ मेरे अर्थ भी कर्मोंको करते करते मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त होओगे ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

जो कि, तुम यहभी करनेको अशक्त हो तो मनको सावधान किये हुए मेरे भक्तियोगका आश्रय किये हुए सर्व कर्मफलका त्याग करो ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥ १२॥

जिससे कि, अभ्याससे कल्याणकारक ज्ञान होता है ज्ञानसे विचार (यानी ध्यान) होता है विचारसे कर्मफलत्याग होता है कर्मफलके त्यागसे फिर शांति याने संसारसे वैराग्य होता है १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४॥

जो सर्वभूतोंको न द्वेषकारक हो और सबका मित्र हो और दयालु भी हो ममतारहित अहंकाररहित सुखदुःखमें सम क्षमावान् यथालाभसंतुष्ट निरंतर भक्तियोगवान् जितचित्त दृढनिश्चय मुझमें मन, बुद्धिको लगाये हो सो मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिससे कोई भी जन्तु त्रास न पावे और जो किसीसे भी दुःख न पावे और जो हर्ष, ईर्षा, भय और उद्वेगोंकरके रहित हो सो मेरा प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६॥

जो मनुष्य मेरे संबधे विना सर्वत्र अपेक्षारहित शुचि याने शुद्ध आहारी और बाहर मृत्तिका जलादिकरके और अंदर चित्तकी शुद्धता करके पवित्र स्वधर्म अनुष्ठानमें चतुर शत्रुमित्रादिरहित शास्त्रोक्त कर्म करनेमें व्यथारहित सर्व आरंभोंके फल और ममताका त्यागी हो ऐसा मेरा भक्त सो मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥

जो सुखकारक वस्तु पाके न हर्षे, दुःखकारक पाके न द्वेषे करे, शोकनिमित्तमें न शोक करे और हर्षकारककी न इच्छा करे जो शुभाशुभ कर्मफलोंका त्यागी हुआ भक्त हो सो मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ॥ अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१८॥१९॥

तथा शत्रु और मित्रमें सम तैसे ही मान अपमानमें, शीत उष्ण सुखदुःखोंमें सम विषयोंकी आसक्तिरहित हो निंदा स्तुति तुल्य माने, मितभाषी जो स्वतःप्राप्त हो इसीकरके संतुष्ट, घरमें अनासक्त स्थिरबुद्धि भक्तिमान् मनुष्य मेरा प्रिय है॥१८॥१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्ति-
योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

जो कोई श्रद्धा धारे हुए मुझको सर्वोत्तमें जाननेवाले भक्त इस यथोक्त धर्मरूप अमृतको याने मुझमें मन लगाना इत्यादि धर्म्यरूप अमृतको सेवते हैं व मनुष्य मेरे अतिशय प्रिय हैं॥२०॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां
श्रीगीतामृततरंगिण्यां द्वादशाध्यायप्रवाहः ॥ १२ ॥

इति द्वितीयं षट्कं समाप्तम् ॥

अथ तृतीयं षट्कम् ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

प्रथमके छः अध्यायोंमें ईश्वरप्राप्तिका उपायभूत उपासना और उपासनाका अंगभूत आत्मस्वरूपज्ञान कहा और उस आत्मस्वरूपज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानयोग कर्मयोगनिष्ठासे होती है ऐसे कहा। मध्यके छह अध्यायोंमें परमात्मस्वरूपका यथार्थ-ज्ञान और उसके माहात्म्यज्ञानपूर्वक उपासना जिस उपासनाको भक्ति भी कहते हैं सो कह चुके। अब अंतके छह अध्यायोंमें प्रकृतिपुरुषका निरूपण और इस प्रपंचका प्रकृतिपुरुषके संयोगसे होना कहेंगे और प्रथम बारह अध्यायोंमें जो कहे परमात्मस्वरूपका यथार्थ निश्चय और कर्मज्ञानभक्तिस्वरूप और इनके ग्रहणके न्यारे न्यारे प्रकार कहेंगे। तहां तेरहवें अध्यायमें देह और आत्मके स्वरूप और आत्मस्वरूपप्राप्तिका उपाय तथा प्रकृतिमुक्त आत्माका स्वरूप और उसके प्रकृतिसंबंधका कारण और प्रकृतिपुरुषविवेकका अनुसंधानप्रकार कहेंगे। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—कि, हे कुंतिपुत्र! यह शरीर क्षेत्र ऐसा कहा

है जो इसको जानता है उसको देहात्मज्ञानिजन क्षेत्रज्ञ ऐसा कहते हैं याने देह क्षेत्र और आत्मा क्षेत्रज्ञ है ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत ! सर्व क्षेत्रोंमें याने सर्व देहोंमें क्षेत्रज्ञ जो जीव और मैं जो परमात्मा उस मुझको भी जानो जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान याने इनका विवेकज्ञान है सो ज्ञान मुझको अंगीकार है ॥ यहाँ जो शरीरोंमें आत्मा परमात्मा दोनों कहे उसपर श्रुति प्रमाण है सो यह "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥ तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥" अर्थ-दो पक्षी संग संग रहनेवाले परस्पर सखा एकसदृश वृक्षपर रहते हैं उनमेंसे एक उस वृक्षके स्वादु फल खाता है. दूसरा खाये विना प्रकाशता है अर्थात् ईश्वर और जीव सदा संग रहते हैं, परस्पर सखा एकसरीखे देहमें रहते हैं उनमें जीव शरीरजन्य कर्मफलोंका भोक्ता है और ईश्वर साक्षिमात्र प्रकाशक है। दूसरा यह अर्थ होता है कि, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ अर्थात् इन दोनोंका अंतर्यामी हूँ तो भी देहांतर्यामी जीव जीवांतर्यामी परमात्मा ऐसे भी यही अर्थ सिद्ध हुआ । जो यहां जीव और ईश्वर एक ही कहते हैं उनको "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" यहां अर्थकी पंचाइत होनेकी अंतर्यामित्वमें तो "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥ न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्" और "यस्यात्मा शरीरं य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमंतरो यमयति यमात्मा न वेद स ते आत्मा अमृतः" इत्यादिक श्रुति भी प्रमाण हैं ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

जो कोई श्रद्धा धारे हुए मुझको सर्वोत्तम जाननेवाले भक्त इस यथोक्त धर्मरूप अमृतको याने मुझमें मन लगाना इत्यादि धर्म्यरूप अमृतको सेवते हैं व मनुष्य मेरे अतिशय प्रिय हैं॥२०॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादाविरचितायां श्रीगीतामृततरंगिण्यां द्वादशाध्यायप्रवाहः ॥ १२ ॥

इति द्वितीयं षट्कं समाप्तम् ॥

अथ तृतीयं षट्कम् ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

प्रथमके छः अध्यायोंमें ईश्वरप्राप्तिका उपायभूत उपासना और उपासनाका अंगभूत आत्मस्वरूपज्ञान कहा और उस आत्मस्वरूपज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानयोग कर्मयोगनिष्ठासे होती है ऐसे कहा। मध्यके छह अध्यायोंमें परमात्मस्वरूपका यथार्थ-ज्ञान और उसके माहात्म्यज्ञानपूर्वक उपासना जिस उपास-नाको भक्ति भी कहते हैं सो कह चुके। अब अंतके छह अध्या-योंमें प्रकृतिपुरुषका निरूपण और इस प्रपंचका प्रकृतिपुरुषके संयोगसे होना कहेंगे और प्रथम बारह अध्यायोंमें जो कहे परमा-त्मस्वरूपका यथार्थ निश्चय और कर्मज्ञानभक्तिस्वरूप और इन-के ग्रहणके न्यारे न्यारे प्रकार कहेंगे। तहां तेरहवें अध्यायमें देह और आत्मके स्वरूप और आत्मस्वरूपप्राप्तिका उपाय तथा प्रकृतिमुक्त आत्माका स्वरूप और उसके प्रकृतिसंबंधका कारण और प्रकृतिपुरुषविवेकका अनुसंधानप्रकार कहेंगे। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं-कि, हे कुंतिपुत्र! यह शरीर क्षेत्र ऐसा कहा

है जो इसको जानता है उसको देहात्मज्ञानिजन क्षेत्रज्ञ ऐसा कहते हैं याने देह क्षेत्र और आत्मा क्षेत्रज्ञ है ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत ! सर्व क्षेत्रोंमें याने सर्व देहोंमें क्षत्रज्ञ जो जीव और मैं जो परमात्मा उस मुझको भी जानो जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान याने इनका विवेकज्ञान है सो ज्ञान मुझको अंगीकार है ॥ यहाँ जो शरीरोंमें आत्मा परमात्मा दोनों कहे उसपर श्रुति प्रमाण है सो यह "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥ तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥" अर्थ–दो पक्षी संग संग रहनेवाले परस्पर सखा एकसदृश वृक्षपर रहते हैं उनमेंसे एक उस वृक्षके स्वादु फल खाता है. दूसरा खाये विना प्रकाशता है अर्थात् ईश्वर और जीव सदा संग रहते हैं, परस्पर सखा एकसरीखे देहमें रहते हैं उनमें जीव शरीरजन्य कर्मफलोंका भोक्ता है और ईश्वर साक्षिमात्र प्रकाशक है। दूसरा यह अर्थ होता है कि, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में ही हूँ अर्थात् इन दोनोंका अंतर्यामी हूँ तो भी देहांतर्यामी जीव जीवांतर्यामी परमात्मा ऐसे भी यही अर्थ सिद्ध हुआ । जो यहां जीव और ईश्वर एक ही कहते हैं उनको " उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" यहां अर्थकी पंचाइत होनेकी अंतर्यामित्वमें तो "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥ न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्" और "यस्यात्मा शरीरं य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमंतरो यमयति यमात्मा न वेद स ते आत्मा अमृतः" इत्यादिक श्रुति भी प्रमाण हैं ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

सो क्षेत्र जिस द्रव्यका है और जिनके आश्रयभूत है और जिन विकारोंकरके और जिस प्रयोजनके वास्ते उत्पन्न हुआ है और जिस रूपसे वर्तमान है और वह क्षेत्रज्ञ जो है याने जैसे रूपयुक्त है और जैसे प्रभाववाला है सो संक्षेप करके मुझसे सुनो ॥३॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

वह क्षेत्रक्षेत्रज्ञका यथास्वरूप बहुत प्रकारकरके पराशरादिक ऋषियोंने और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ऐसे अनेक प्रकार वेदोंने और ब्रह्मके प्रतिपादन करनेवाले जो ब्रह्मसूत्र याने व्यासकृत शारीरिक सूत्ररूप पदोंने जो कारणयुक्त निश्चय याने सिद्धान्त करनेवाले उन्नने भी क्षेत्रक्षेत्रज्ञके स्वरूपको न्यारा न्यारा कहा है सो मैं संक्षेपसे कहूँगा तुम मुझसे सुनो ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि याने महतत्त्व और अव्यक्त याने सूक्ष्मरूप प्रकृति ये क्षेत्रके उत्पत्तिकारक द्रव्य हैं अब विकार याने कार्य कहते हैं दश और एक ऐसे ग्यारह इंद्रियां हैं जैसे कि कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका ये पांच ज्ञानइंद्रियां; वाणी, हाथ, पांय, गुदा और लिंग ये पांच कर्म इंद्रियां, एक मन ऐसे ग्यारह इंद्रियां और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं ये सोलह विकार हैं इच्छा, द्वेष, सुख दुःख संघात याने सविकार भूत समूह चेतना जो ज्ञानशक्ति धृति जो धीरज ऐसे संक्षेपसे विकारसहित यह क्षेत्र कहा ॥ ५ ॥ ६ ॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

अब क्षेत्रकार्योंमें आत्मज्ञानसाधनके वास्ते ग्रहण करनेके गुण कहते हैं जैसे-कि, श्रेष्ठ जनोंमें मानका न चाहना लोक दिखानेको धर्म, कर्म रूप दंभ न करना परपीडारूप हिंसाका न करना अपनेसे बलहीनके अपराध सहनरूप क्षमा रखना, सबसे सरल स्वभाव रहना, मन, वचन, कर्म करके गुरुकी सेवा करना मृत्तिका जलादिसे बाहर और शुद्ध चित्तसे ईश्वरस्मरणरूप अंतर ऐसा शौच करना आत्मज्ञानमें स्थिर रहना मनको सर्वत्रसे निवारण करके ईश्वरमें लगाना ॥ ७ ॥

इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इंद्रियविषयोंमें गुणबुद्धि न करना और देहमें और देहसंबंधी पदार्थोंमें अहंबुद्धि न करना, जन्म मृत्यु वृद्धावस्था अनेक रोग ऐसे शरीरमें इन दुःखरूपे दोषोंका विचारना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

आत्मा विना अन्यत्र आसक्तिरहित पुत्र स्त्री और घर इत्यादिकोंमें अति मिलाप न रखना और इष्ट और अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें निरंतर समचित्त रहना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझमें अनन्ययोग करके अखंड भक्ति एकांत रहनेमें प्रीति जनसभामें अप्रीति ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

आत्मसंबंधी ज्ञानकी नित्यता तत्त्वज्ञानके प्रयोजनका विचारनां ऐसे यह ज्ञान कहा जो इससे अन्यथा है सो अज्ञान है११

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्य है सो कहता हूँ जिसको जानके मोक्षको पाता है वह ऐसा है कि, अनादि याने जन्मरहित है मत्पर याने उससे श्रेष्ठ मैं ही हूँ वह केवल मेरे स्वाधीन है ब्रह्म याने प्रकृतिमुक्त शुद्ध चैतन्य जीवात्मा है वह आत्मा न सत् न असत् कहनेमें आता है याने कार्य कारण दोनों अवस्थाओं करके रहित है१२॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

वह जीवात्मा सब ओरसे हाथ पांववला है सर्व ओरसे नेत्र मस्तक और मुखवाला है सब ओरसे कानवाला है लोकमें वस्तुमात्रमें व्यापक होके रहता है यह स्वरूप मुक्तजीवका कहा। मुक्तदशामें जीवकी समता परमात्माके सरीखी है सो यहां गीतामें भी कहेंगे " इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः " सूत्र भी है "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च" और "तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" ऐसे जो परमात्माकी समता कही है तो परमात्मासरीखा स्वरूप होनेमें क्या शंका है ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

सर्व इंद्रियोंकी वृत्तियों करके भी विषयोंको जाननेमें समर्थ है

और आप स्वभावसे सब इंद्रियोंकरके रहित भी हैं याने इंद्रियोंकी वृत्ति विना भी विषयोंको जाननेमें समर्थ हैं आप स्वयं देवादिशरीरोंमें आसक्त नहीं हैं और सब देवादिशरीरोंका धारण करनेवाला है सत्त्वादिगुणरहित और गुणोंका भोगनेवाला है ॥१४॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत्॥१५॥

वह आत्मा मुक्तावस्थामें पृथिव्यादि भूतोंके बाहर और वृद्धावस्थामें भीतर रहता है स्वयं आप अचर है और देहसंयोगसे चर होता है। सूक्ष्म है इससे जानने योग्य नहीं है वह अज्ञानियोंको दूर है और ज्ञानियोंको समीप है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

वह पृथिव्यादि भूतविकार देवादि शरीरोंमें एकरस रहता है और अज्ञानियोंको देवादिशरीरोंमें देवादिशरीरोंके सदृश दीखता है कि यह देव यह मनुष्य पशु इत्यादिक विभक्तसरीखा स्थित दीखता है और सबभूतोंका पोषक है और अन्नादिक भूतोंका भक्ष है देहरूपसे आहार करनेवाला है और उसी अन्नादि विकारसे उत्पत्तिकर्ता भी है ऐसे जानने योग्य है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

वह सूर्यादिक ज्योतियोंका भी प्रकाशक है सूक्ष्मकारणरूप प्रकृतिसे परे याने न्यारा कहता है ज्ञानरूप जाननेयोग्य ज्ञानसे प्राप्त होने योग्य सबके हृदयमें रहता है याने सब देव मनुष्य पशु पक्ष्यादि शरीरोंके हृदयमें रहता है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

ऐसे 'महाभूतान्यहंकारः' यहांसे लेके, 'संघातश्चेतना धृतिः' यहां पर्यंत क्षेत्र कहा तथा "अमानित्वं" यहांसे लेके "तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं" यहांपर्यंत ज्ञान कहा और "अनादिमत्परं" यहांसे लेके "हृदि सर्वस्य धिष्ठितं" यहांपर्यंत ज्ञेय याने जानने योग्य आत्मस्वरूप यह संक्षेपसे कहा इतनोंको जानके मेरा भक्त होके मुझसरीखे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृतिको और पुरुषको याने जीवको इन दोनोंको भी अनादि याने सनातन जानो जो बंधनकारक इच्छा द्वेष सुख दुःखादिक विकार इनको और मोक्षकारक अमानित्व अदंभित्व गुण इनको निश्चयपूर्वक प्रकृतिसंभव जानो अर्थात् इच्छादिविकारयुक्त प्रकृति पुरुषको बंधनकारक और अमानित्वगुणयुक्त मोक्षदायक होती है ॥ १९ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

अब एकसंग रहे हुए प्रकृतिपुरुषोंके कार्यभेद कहते हैं जैसे कि, जो प्रकृतिपरिणाम देहकारण मनसहित इंद्रियां इनका व्यापार करानेमें कारण प्रकृति कही है सुखदुःखोंके भोक्तापनेमें कारण पुरुष कहा है याने भोगसाधनकर्मकी आश्रय प्रकृति परिणाम और पुरुषयुक्त देह तथा सुखादिभोक्तृत्व आश्रय पुरुष है ॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

जिसवास्ते कि, यह पुरुष प्रकृतिहीमें रहा हुआ प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगता है इसीसे इसका ऊंच नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण प्रकृति गुणोंका याने सत्त्वादिगुणोंका संग ही है अर्थात् उन गुणोंकी आसक्तिहीसे ऊंच नीच जन्म होते हैं ॥ २१ ॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः २२॥

इस देहमें यह पुरुष देखनेवाला है याने चौकसी करनेवाला है और अनुमोदन देनेवाला याने सलाह देनेवाला है और इस देहका पोषनेवाला है और भोगनेवाला है और इसका महेश्वर है जैसे कि, इस देहमें ईश्वर इन्द्रिय विषय इत्यादि हैं उनका भी ईश्वर है ऐसे इस देहसे यह जीव न्यारा भी है परंतु अज्ञानसे केवल यह देह ऐसा कहाता है ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो ऐसे इस जीवको और गुणोंकरके सहित प्रकृतिको जानता है सो सर्व प्रकारसे संसारमें रहता है तो भी फिर नहीं उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

कितनेक पुरुष अपने अंतःकरणमें बुद्धिसे विचार करके इस जीवात्माको जानते हैं और कितनेक सांख्ययोगकरके जानते हैं और कितनेक कर्मयोगकरके याने ईश्वरार्पण कर्म करते करते

जानते हैं और कितनेक दूसरे ऐसे नहीं जानते हुए दूसरोंसे सुनके उपासना करते हैं याने सुनके प्रथमसरीखे उपाय करके जानते हैं और कितनेक केवल श्रद्धायुक्त श्रवण ही करते रहते हैं तो वे भी संसारको तैरते हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! जितने कुछ स्थावर और जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं उनको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे याने शरीर और जीवके संयोगसे जानो ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमीश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो कोई सर्व भूतोंमें समं रहे हुए केवल मन इंद्रियादिकोंके ईश्वर इस जीवको इन इंद्रियादिकोंके नाश होते हुए भी इसको नाशरहित देखता है याने जानता है सो ही जानता है ॥२७॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

सर्व देवादि शरीरोंमें एकसरीखे रहे हुए इस मन इंद्रियादिकोंके ईश्वर जीवात्माको समं देखता हुआ जो कि, बुद्धिपूर्वक अपने आपको नहीं हनता है याने संसारमें नहीं गिराता है उससे वह परम गतिको याने मुक्तिको पाता है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो सर्व कर्मोंको प्रकृति करके ही याने प्रकृति विकार इंद्रियों करके ही करे हुए जानता है और तैसें ही अपने आपको अकर्त्ता जानता है सो जानता है ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

जब भूतोंका पृथग्भाव याने देवमनुष्यादिक शरीरोंकी छोटाई बड़ाई मोटाई पतलाई इत्यादि न्यारे न्यारे भावोंको एकस्थ याने एक प्रकृतिहीमें देखता है और उसी प्रकृतिमें पुत्रादिरूप विस्तारको देखताहै तब शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है॥१३॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

हे कुंतीपुत्र ! यह जीवात्मा अनादिपनसे अविनाशी है केवल शरीरमें रहा हुआ भी निर्गुणपनेसे न कुछ कर्मोंको करता है न उन कर्मफलों करके लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२॥

जैसे सर्वत्र प्राप्त भया हुआ आकाश सूक्ष्मतासे उन भूतोंके गुणोंकरके लिप्त नहीं होता है तैसे सर्व देवादि शरीरोंमें रहा हुआ जीवात्मा देहगुणोंकरके नहीं लिप्त होता है ॥ ३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे भारत ! जैसे एक सूर्य इस सर्व लोकोंको प्रकाशता है तैसे यह जीव सर्व शरीरको प्रकाशता है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जो कोई ज्ञानदृष्टिकरके क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ऐसे अंतरको और भूतप्रकृतिके मोक्षको जानते हैं वे मुझको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां त्रयोदशाऽध्यायप्रवाहः ॥ १३ ॥

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं-कि सर्व ज्ञानोंमें उत्तम प्रसिद्ध भया हुआ ज्ञान फिर कहता हूं जिसको जानके सर्व मुनिजन यहांसे श्रेष्ठ सिद्धिको याने परमपदको जाते भये ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥ २ ॥

जो कहता हूं इस ज्ञानको प्राप्त होके मेरी सधर्मताको याने मेरे समान रूप वैभवको वे मुनिजन प्राप्त होते हुए व उत्पत्तिकालमें न उत्पन्न होत हैं और प्रलयमें न दुःखी होते हैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! मम महद्ब्रह्म याने मेरी प्रकृति सर्व भूतोंकी योनि याने उत्पत्तिस्थान है मैं उस प्रकृतिमें जीवरूप गर्भको धारण करता हूं तब उससे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवंति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कुंतीपुत्र ! देव मनुष्यादि सर्व योनियोंमें जो देही उत्पन्न

होते हैं उन संबकी महँत् ब्रंह्म याने प्रकृति कारणं है मैं चेतनरूप बीजका देनेवालौं पितौं हूं ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजंस्तंम इंति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबंध्नंति महाबांहो देहे देहिंनमंव्ययम् ॥ ५ ॥

हे महाबांहो ! सत्त्वगुंण रजोगुंण और तमोगुंण ये प्रकृतिसे उत्पंन्न गुणँ इसं देहमें अविनाशी जीवंको बंधन कंरते हैं ॥ ५ ॥

तत्रं संत्त्वं निर्मलंत्वात्प्रकांशकमंनामयम्।
सुखंसंगेन बध्नांति ज्ञानसंगेनं चांनघं ॥ ६ ॥

हे निष्पांप ! उन गुंणोंमें सत्त्वगुंण निर्मलतासे प्रकाशंक याने शुभाशुभ कर्मोंका दिखानेवाला रोगरहितं है इसीसे यह सुखकी आसंक्तिसे और ज्ञानके संगं करके बांधतां है याने ज्ञानसुखसे शुभकर्म शुभकर्मसे स्वर्गादि फिर उत्तम कुलमें जन्म फिर ज्ञानसुख ऐसे बांधता है ॥ ६ ॥

रंजो रांगात्मकं विद्धिं तृंष्णासंगसमुद्भवम्।
तंन्निबध्नांति कौंतेयं कर्मसंगेनं देहिंनम् ॥ ७ ॥

हे कुंतीपुत्र ! तृष्णा और स्त्री धनादिमें आसक्तिका करनेवालौं रजोगुंण विषयादिकमें प्रीति उपजानेवाला जांनो वंह जीवंको कंर्मसंगसे बांधंता है जैसे प्रीत्यात्मक कर्मसे उन कर्मसंगियोंमें जन्म फिर कर्म फिर जन्म ऐसे ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञांनजं विद्धिं मोहंनं संर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्रांभिस्तंन्निबध्नांति भारतं ॥ ८ ॥

हे भारतं ! सर्वदेहधारी जीवोंकां मोहनेवांला तमोगुंण अज्ञानंका कारण जांनो वंह प्रमाद आलस और निंद्राकरके बंधन करंता है ॥ ८ ॥

संत्त्वं सुंखे संजयंति रजंः कंर्मणि भारत।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे भारत ! सत्त्वगुण मनुष्यको सुखमें लगाता है रजोगुण कर्ममें तमोगुण ज्ञानको ढंकके फिर प्रमादमें लगाता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत ! यद्यपि ये गुण प्रकृतिके हैं तो भी विपरीतताका कारण यह कि, रजोगुण और तमोगुणको जीतके सत्त्वगुण प्रबल होता है और रजोगुण सत्त्वगुणको जीतके तमोगुण प्रबल होता है तैसा ही तमोगुण सत्त्वगुणको जीतके रजोगुण प्रबल होता है यहां कारण प्राचीनकर्म और नित्य आहारादिक है॥ १०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! इस देहमें जब सर्व नेत्रादि द्वारोंमें प्रकाश याने वस्तुका यथार्थ निश्चय सोई ज्ञान उत्पन्न हो तब सत्त्वगुण बढा है ऐसा जानना और रजोगुणके बढनेसे लोभ जो धनादिक खरचे विना और मिलनेकी इच्छा प्रवृत्ति याने प्रयोजन विना चंचलता कर्मोका आरंभ इंद्रियलोलुपता विषयेच्छा इतने उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनंदन ॥ १३ ॥

हे कुरुनंदन ! तमोगुणके बढनेसे विवेककी हानि निरुद्यमता और न करनेका करना और विपरीतज्ञान इतने ये होते हैं" १३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब सत्त्वगुणके बढ़ते समयमें देहधारी प्रलय याने मृत्युको प्राप्त हो तब आत्मज्ञानियोंके शुद्ध लोकोंको प्राप्त होती है अर्थात् आत्मज्ञानियोंके कुलमें आत्मज्ञान जाननेयोग्य शरीरोंको प्राप्त होता है " लोकस्तु भुवने जने " इस प्रमाणसे यहाँ लोकशब्द जनवाची है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होके कर्मसंगियोंमें जन्म लेता है याने उनमें जन्म लेके सकाम कर्म करके स्वर्गको जाता है फिर उनहीमें जन्म लेके फिर कर्म करके स्वर्गमें ऐसे ही फिरता रहता है तथा तमोगुणमें मरा हुआ नीचे योनिमें जन्मता है वहाँ भी वैसा ही क्रम जानना ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सुकृत कर्मका फल सात्त्विक निर्मल कहते हैं याने उसके करते २ किसी जन्ममें मुक्त होता है और रजोगुणी कर्मका फल दुःखं याने उस सकामसे स्वर्ग स्वर्गसे मृत्युलोक फिर स्वर्ग ऐसे संसारदुःख ही है तमोगुणी कर्मका फल अज्ञान है याने उससे नरक ही है॥१६॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सात्त्विक कर्मसे ज्ञान होता है और राजससे लोभ ही होता है तामससे प्रमाद और मोह होते हैं और अज्ञान भी होता है॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः ॥१८॥

सात्त्विककर्म करनेवाले मुक्तिको पाते हैं राजस कर्मवाले मध्यमें (स्वर्ग मृत्यु लोकमें ही) रहते हैं जैसे पुण्यसे स्वर्ग, पुण्य क्षीण होनेसे मनुष्यलोक फिर पुण्यसे स्वर्ग ऐसे वारंवार मध्यमेंही रहते हैं तमोगुणी नीचगुणकी वृत्तिमें वर्त्तनेवाले तामसी नीचजाति पशु कीटादिकमें जन्मते रहते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यंति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब विवेकी पुरुष सत्त्वादिगुणोंके विना और किसीको कर्त्ता नहीं जानता है और अपने आपको गुणोंसे न्यारा जानता है तब सो मेरी साम्यताको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह देहधारी जीव देहमें उत्पन्न हुए इन सत्त्वादि गुणोंको उल्लंघन करके जन्म मृत्यु और जरापनके दुःखोंकरके छूटा हुआ मोक्षको पाता है गुणयुक्त नहीं ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥ २१ ॥

ऐसे सुनके अर्जुन पूंछते हैं-कि, हे प्रभो ! कौनसे चिह्नोंकरके इन तीन गुणोंको उल्लंघन किया हुआ होता है वह कैसे आचरणवाला होता है और इन तीनों गुणोंको कैसे उल्लंघन कर सकता है ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो यो गुणैर्न विचाल्यते।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अर्जुनका प्रश्न सुनके भगवान् कहते हैं-कि, हे पांडुपुत्र! जो पुरुष प्रकाश सत्त्वगुणके कार्य आरोग्यादिक और रजोगुणका कार्य प्रवृत्ति और तमोगुणका कार्य मोह ये प्रवृत्त हों तो इनका त्याग नहीं चाहता है तथा निवृत्त हुए इनकी प्रवृत्ति नहीं चाहता है। उदासीन सरीखा स्थित हुआ गुणों करके नहीं चलायमान होता है। आप ही अपने २ कार्योंमें गुण वर्तमान हैं ऐसा विचार कर जो स्थिर है चलायमान नहीं होता है, सुखदुःखमें सम स्वस्थ और ठीकरी कंकर पत्थर और सोना जिसके सम है जिसको प्रिय अप्रिय तुल्य हैं ऐसा जो धीर अपनी निंदा स्तुति समान जानता है, मान और अपमान तुल्य, मित्र शत्रुपक्षमें तुल्य मेरे सेवनादि विना सर्व आरंभोंका त्यागी सो गुणातीत कहाता है ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

जिसवास्ते कि, मरणधर्मरहित और इसीसे अविनाशी जो ब्रह्म याने मुक्तजीव उसका और सनांतन धर्म जो भक्तियोग उसका और मुख्य सुख जो स्वस्वरूपकी प्राप्ति उसका मैं आधार हूं इसीसे जो अखंडित भक्तियोगकरके मुझको भजता है सो इन गुणोंको उल्लंघन करके मेरी समताको प्राप्त होता है॥ २६ ॥ २७ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गी-
तामृततरंगिण्यां चतुर्दशाध्यायप्रवाहः ॥ १४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

तेरहवें अध्यायमें क्षेत्ररूप प्रकृति और क्षेत्रज्ञ पुरुष याने जीव इनका स्वरूप कहा। शुद्ध जीवात्माको भी प्रकृतिसंबंधी गुणोंके प्रवाहनिमित्त देवादिक आकारसे परिणामको प्राप्त हुई जो प्रकृति उसका सम्बंध अनादि कहा. चौदहवें अध्यायमें कहा कि, इस जीवको जो कार्य और कारण अवस्थाओंमें यह गुणसंगप्रवाहरूलप्रकृतिसंबंध सो भगवान्हीने किया है ऐसे कहके विस्तार-सहित गुणसंगप्रकारको कहके कहा कि, गुणसंगनिवृत्तिपूर्वक स्वस्वरूपकी प्राप्ति भगवद्भक्तिमूलक ही है.अब पंद्रहवें अध्यायमें

जो भजने योग्य भगवान् अपने कल्याण गुणादिकोंकरके बद्ध मुक्त दोनों प्रकारके जीवोंसे विलक्षण (न्यारे) उनको पुरुषोत्तमत्व कहनेको जो यह बन्धन आकारसे विस्तरित प्रकृतिका परिणाम विशेष संसार उसको पीपरवृक्षरूप कल्पित करके श्रीकृष्ण भगवान् कहने लगे-कि,जिसके वेद पत्ते अर्थात् जैसे पत्तोंकरके वृक्ष बढ़ता है वैसे ही यह संसाररूप वृक्ष वेदोक्त कर्म करके बढ़ता है। इससे वेद पत्तारूप हैं, ऊर्ध्वमूल याने सत्यलोकमें ब्रह्मा जिसका मूल है अधःशाख याने सत्यलोकसे नीचे जो देव मनुष्य कीट पतंगपर्यंत शरीर ये उसकी शाखा हैं ऐसा अव्यय याने सम्यक् ज्ञानप्राप्ति होनेसे प्रथम अज्ञानदशामें प्रवाहरूप करके छेदनेके अयोग्य इसीसे अज्ञानकरके अविनाशी है ऐसा इस संसारको अश्वत्थ याने पीपरवृक्षरूप श्रुति कहती है उसको जो जानता है सो वेदका जाननेवाला है अर्थात् वेद इस संसारके छेदनेका उपाय कहता है तो जो इसको जानेगा तो छेदनेका भी उपाय जानेगा इससे वह वेद जाननेवाला है ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ॥ अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अब उस संसारवृक्षकी और भी विलक्षणता कहते हैं-जैसे कि सत्त्वादिगुणोंकरके बढ़ी हुई और शब्दादिक विषय जिनके प्रवाल याने कोंपर याने जो नये एक दिनके निकले हुए पत्ते वैसे पत्ते जिनके विषय हैं ऐसी उस वृक्षकी शाखें नीचे मनुष्यलोकमें और ऊपर देव गंधर्वादिलोकोंमें फैल रही हैं अर्थात् नीचकर्मसे नीचे मनुष्योंसे भी नीच पश्वादिशरीर ऊपर उत्तमकर्मसे उत्तम देवादिशरीररूप शाखें फैल रही हैं । नीचे मनुष्यलोकमें भी उसकी कर्मानुसारी

मूल फैली रही हैं अर्थात् मनुष्यलोकमें जो ऊंच नीच कर्म वही मूलरूप हैं। ऊंच नीच पदवी कर्म विना नहीं तथा कर्म मनुष्यशरीर विना नहीं होता है ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ॥ अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥ ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तंति भूयः ॥ तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥

इस संसारवृक्षका इस लोकमें जैसा कहा है वैसा रूप अज्ञानीजनोंके नहीं जाननेमें आता है न उसका अंत और न आदि और न स्थिति जाननेमें आती है ऐसे दृढमूल इस पीपर वृक्षको अतिदृढ वैराग्यरूप शस्त्रसे छेदन करके फिर जिससे यह प्राचीन प्रवृत्ति याने गुणमय भोगरूप संसारप्रवाह विस्तरित है उसी आदि पुरुषके शरणागत होके उस पदको ढूंढना कि, जिसमें गये हुए मुनिजन फिर इस संसारमें नहीं आते हैं॥३॥४॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ॥ द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जो मानमोहकरके रहित हैं और जिसने संगदोषोंको जीता है तथा जो अध्यात्मशास्त्रमेंही नित्य वर्तमान हैं और जिनकी कामना निवृत्त हो जो सुखदुःखसंज्ञक द्वंद्वोंसे छूटे हुए हैं वे ज्ञानीजन उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं याने स्वस्वरूपको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तंते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

सूर्य उस आत्माको नहीं प्रकाश सकता है। न चंद्रमा और न अग्नि प्रकाश सकता है जिस रूपको याने शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होके नहीं संसारमें आते हैं वह मेरा परम धाम है याने मेरे रहनेका मुख्य स्थान मेरा शरीर है इस जगह "यस्यात्मा शरीरम्" यह श्रुति भी प्रमाण है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

जो यह ऐसा वर्णन किया सो यह मेरा ही सनातन अंश है याने जैसे प्रकृति और अनंतजीव मेरे ही हैं उनमें यह एक मेरा ही है मेरी ही विभूति है सो यह इस जीवलोकमें जीवभूत याने अति संकुचितज्ञान हुआ पांच ज्ञानेंद्रिय और एक मन ऐसे मनसहित छः प्रकृतिविकार इस देहमें रही हुई इंद्रियोंको खैंचता फिरता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥ ८ ॥

जब यह जीव शरीरको प्राप्त होता है और जब वर्त्तमानशरीरसे जाता है तब यह मन इद्रियोंका ईश्वर अपनी सेनारूप इन इंद्रियोंको जैसे ले जाता है पवन पुष्पादिक गंधस्थानसे गंधको वैसे ग्रहण करके ले जाता है ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र इंद्रिय याने कान नेत्र और स्पर्शन जो

त्वचा इंद्रिय रसना जो जिह्वा और घ्राण जो नासिका और मन इनको आश्रयकरके विषयोंको सेवता है ॥ ९ ॥

उत्क्रामंतं स्थितं वाऽपि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यह जो गुणोंकरके युक्त आत्मा उसको देह त्यागनेको अथवा देहमें रहते हुएको अथवा विषय भोगते हुएको भी अज्ञानी जन नहीं देखते जिनके ज्ञानदृष्टि है वे देखते हैं॥१०॥

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥११॥

योगिजन प्रयत्न करते करते अपने अंतःकरणमें रहे हुए इस आत्माको देखते हैं और जो विषयासक्त हैं वे जो शास्त्रद्वारा उपाय करें तो भी वे अज्ञानी इस आत्माको नहीं देख सकते ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जो सूर्यमें रहा हुआ तेज सर्व जगतको प्रकाशित कर रहा है और जो तेज चंद्रमामें और जो अग्निमें है उस तेजको मेरा ही तेज जानो ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

मैं पृथ्वीमें प्रविष्ट होके अपने अचिंत्य सामर्थ्यकरके सब भूतोंको धारण करता हूं और अमृतमय चंद्र होके सर्व औषधियोंको पालता हूं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं जठराग्नि होके सर्व प्राणियोंके देहमें रहा हुआ प्राण और अपान संयुक्त भक्ष्य,भोज्य,लेह्य, पेय ऐसे चार प्रकारके अन्नको पचाता हूं ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानं-
मपोहनं च ॥ वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांत-
कृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं सर्वके हृदयमें प्रविष्ट हूं और सबके स्मृति ज्ञान और विचार मुझसे होते हैं और सर्व वेदोंकरके ही जानने योग्य हूं और वेदांतका कर्ता और वेदका जाननेवाला मैं ही हूं १५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥

इस लोकमें क्षर और अक्षर ऐसे ये दो प्रकारके पुरुष हैं उनमें सर्व शरीरधारी भूत प्राणी क्षर और मुक्त जीव अक्षर कहाता है इन दोनोंसे उत्तम पुरुष और है जो परमात्मा ऐसे कहाता है जो अविनाशी ईश्वर त्रिलोकीमें प्रवेश करके सर्व त्रिलोकीका भरण पोषण करता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

जिसवास्ते कि मैं बद्धावस्थ जीवसे श्रेष्ठ और मुक्तसे भी उत्तम हूँ इससे स्मृति और वेदमें भी पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे भारत! जो सम्यक्ज्ञानी पुरुष ऐसे मुझको पुरुषोत्तम जांनता है सो सर्वज्ञ है इसीसे वह सर्वभाव याने माता पिता सुहृद् धनादिक मुझको जानंके मुझेंकोही भंजता है॥ १९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुराणपुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

हे निष्पाप! ऐसे यह अतिगोप्य शास्त्र मैंनें कहा हे भारत! इसको जानंके बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है॥ २०॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्या पञ्चदशाऽध्यायप्रवाहः॥ १५॥

ऐसे तेरहवें अध्यायसे पंद्रहवेंकी समाप्तिपर्यन्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेक और गुणत्रयका विभाग और क्षराक्षर याने बद्ध मुक्त जीवोंका स्वरूप तथा परमात्माका पुरुषोत्तमत्व और सामर्थ्य कह चुके। अब सोलहवें अध्यायमें जीवकी शास्त्रवश्यता और दैवासुरसम्पत्तिविभाग कहेंगे॥

श्रीभगवानुवाच।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं-कि, हे भारत ! दैवी संपदाको प्राप्त हुएं मनुष्यको निर्भय रहना अंतःकरणकी शुद्धि, प्रकृतिसे भिन्न आत्मा है ऐसी निष्ठा सुपात्रको कुछ देना और मनको विषयोंसे निवृत्त करना और निष्कामतासे भगवानके पूजनरूप पंचमहायज्ञोंका करना वेदमन्त्रादिकोंका जप एकादशी व्रतादिरूप तप सर्वसे सरल रहना जीवमात्रको पीडा न देना हित और यथार्थ भाषण क्रोधका न करना उदारता शांति याने इंद्रियोंको वश करना चुगली न करना भूतप्राणिमात्रपर दया परस्त्री धनादि पर इच्छा न करना अक्रूरता लज्जा व्यर्थ कामको न करना तेज क्षमा याने सहनशीलता धीरज पवित्रता द्रोहको न करना मान प्राप्तिके वास्ते अति मानका न करना ये २६ गुण होते हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम ॥४॥

हे पृथापुत्र ! आसुरी संपदाको प्राप्त हुए मनुष्यके दंभ दर्प और अभिमान क्रोध और कटु भाषण और अज्ञान ये लक्षण होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

हे पांडुपुत्र ! दैवी संपदा मोक्षके वास्ते है आसुरी बन्धनके वास्ते निश्चय की गयी है तुम दैवी संपदाको प्राप्त हुए हो मत शोचो ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! इस लोकमें दो प्रकारके प्राणी हैं एक दैव और दूसरे आसुर, दैव विस्तारसे कहा आसुरको सुनो ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नाऽपि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

असुर स्वभाववाले मनुष्य संसार साधन और मोक्ष साधन भी नहीं जानते हैं उनमें न शुचिता और न शास्त्रीय आचरण हैं उनमें न सत्य भी रहता है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे असुरप्रकृति मनुष्य इस जगत्को कोई तो असत्य याने मिथ्या और भ्रम कहते हैं कोई अप्रतिष्ठ याने इसका कोई आधार नहीं ऐसा कहते हैं कोई अनीश्वर कहते हैं स्त्रीपुरुषके परस्पर संयोगसे हुए विना और जगत् क्या है केवल कामहीके निमित्तसे याने स्त्रीपुरुषके संयोगसेही होता है ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

वे अज्ञानी जन खानपानादिक अल्पपदार्थमें बुद्धिवाले ऐसी समुझको ग्रहण करके उग्र कर्म करनेवाले याने परस्त्री धन पुत्रादिकोंके हरण करनेवाले सर्वके अहित जगत्के नाशके वास्ते प्रवृत्त होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्त्ततेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

जो दुःखसे भी न पूरी होय ऐसी कामनाके आश्रित होके दंभ मान और मदयुक्त भये हुए मोहसे असद्ग्राहोंको ग्रहण करके याने

मारण मोहन वशीकरणके उपाय करनेमें भ्रष्ट आचरण स्वीकार करके अपवित्र व्रत भूतादि सेवनेवाले बनकर उनही मारणादिक कामोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

अपार और मरणांत चिंताको प्राप्त हो कामोपभोगमें तत्पर इतनां ही सुख है ऐसा निश्चय किये हुए ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सैकडों आशाकी फांसियोंकरके बँधे हुए काम और क्रोधके स्वाधीन हुए कामभोगके वास्ते अन्यायकरके द्रव्यसंचयका उपाय करते रहते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यपि पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

मैंने आज यह पाया इस मनोरथको पाऊंगा मेरे यह धन है फिर यह भी होगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

मैंने यह वैरी मारा और औरोंको भी मारूंगा मैं ईश्वर हूं मैं भोगी हूं मैं सिद्ध हूं मैं बलवान् हूं मैं सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

मैं योग्य हूं उत्तम कुलमें जन्मा हूं मेरे समान और कौन है

यज्ञ करूंगा दान दूंगा आनंद करूंगा ऐसे" अज्ञानमें मोहे रहते हैं ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेक जगह चित्त लगनेसे भ्रमिष्ठ मोहके जालमें फंसे हुए जो कामभोगमें आसक्त वे अपवित्र नरकमें पडते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

जो आपको आप ही श्रेष्ठ मान रहे हैं और अनम्र हैं धन मान मदयुक्त हैं वे दंभसे अविधिपूर्वक नाममात्रके यज्ञोंकरके यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकार बल दर्प काम और क्रोध ग आश्रय कर रहे हैं ऐसे वे अपने और औरोंके देहोंमें रहे हुए मुझसे द्वेष करते हुए मेरी निंदा करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

मैं उन द्वेष करनेवाले क्रूर अशुभ नराधमोंको संसारमें आसुरी ही योनियोंमें वारंवार पटकता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनिजन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे कुंतीपुत्र ! वे मूर्ख जन्मजन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हो मुझको न प्राप्त होके फिर अधमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकारका नरकका द्वार अपना नाशनेवाला है याने संसारमें भ्रमानेवाला है इससे इन तीनोंको त्यागना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

हे कुंतीपुत्र ! इन तीनों नरकद्वारोंसे छूटा हुआ मनुष्य अपने कल्याणका साधन करता है उससे परमपदको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो शास्त्रविधिको त्यागके स्वइच्छाप्रमाण चलता है सो न सिद्धिको पाता है न सुखको न मोक्षको पाता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इससे तुमको कार्याकार्यव्यवस्थामें शास्त्र प्रमाण जानके इस लोकमें शास्त्रविधानोक्त कर्म करना योग्य है ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां षोडशाऽध्यायप्रवाहः ॥ १६ ॥

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

सोलहवें अध्यायमें ईश्वरतत्त्वका ज्ञान और ईश्वरप्राप्तिका उपाय इनके मूल कारण वेदही हैं ऐसे कहा और अंतमें कहा कि, शास्त्रविधिहीन कर्म करनेवालेको सुखादिक नहीं है सो सुनके अर्जुन बोले-कि, हे कृष्ण ! जो शास्त्रविधिको त्यागके श्रद्धाकरके युक्त यजन करते हैं उनकी क्या निष्ठा है सत्त्वगुण है किंवा रजोगुण तमोगुण हैं ॥ १ ॥

त्रिविधा भवंति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

अर्जुनका प्रश्न सुनके श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं-कि, सात्त्विकी और राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकारकी निश्चय श्रद्धा होती है सो देहधारियोंकी स्वभावसेही होती है उसको सुनो ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवंति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अंतःकरणके अनुरूप होती है यह पुरुष श्रद्धामय है जो जिस श्रद्धावाला होता है सो वही होता है जैसे सात्त्विकी श्रद्धावाला सात्त्विक इत्यादि ॥ ३ ॥

यजंते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक पुरुष देवताओंको पूजते हैं, राजसी यक्षराक्षसोंको और अन्य तामसी जन प्रेत भूतगणोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः ।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयंतः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

दंभ और अहंकार संयुक्त कामना और विषयानुराग इनकी ही सेनासे युक्त वे मनुष्य अशास्त्रविहित यांने जो शास्त्रप्रसिद्ध नहीं ऐसे घोर तपको तपते हैं वे अज्ञानी जन शरीरमें रहेहुए भूतसमूहको और अंदर शरीरमें स्थित मुझको भी दुःख देते हैं उनको आसुर निश्चय याने असुरपनेमें निश्चय जिनका ऐसे उनको जानो ॥ ५ ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहार भी सर्वका तीन प्रकारका प्रिय होता है और यज्ञ तथा तप दान ये भी तीन प्रकारके हैं इनका भेद यह सुनो ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

जो आहार आयुष्य होशियारी बल आरोग्य सुख और प्रीतिके बढानेवाले हों मधुरादिरसयुक्त स्निग्ध स्थिर याने बहुतकाल रहनेवाले हृदयके वर्द्धक ऐसे आहार सात्त्विक जनोंको प्रिय होते हैं ८

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अतिकटु जैसे बहुत मिर्चवाला पदार्थ अतिखट्टा अतिलोनवाला बड़ा वगैरह अति गरमागरम अति तीक्ष्ण राई आदि मिश्रित अति रूखे और दाहकारक राजसियोंके प्रिय आहार दुःख शोक और रोगोंके देनेवाले होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

जिस भात वगैरेको एक पहर बीता हो वह ठंढा पदार्थ रसविहीन दुर्गंधवाला और बासी और उच्छिष्ट भी ऐसा अपवित्र भोजन तामसियोंको प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

यज्ञ करना ही योग्य है "ऐसे मनको समाधान करके फलइच्छारहित मनुष्योंने विधिपूर्वक जो यज्ञ किया हो सो" यज्ञ सात्त्विक है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ 'तं यज्ञं विद्धि' राजसम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ! जो फलकी इच्छाकरके और दंभके वास्ते भी यज्ञ करे उस यज्ञको राजस जानो ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

जो विधिहीन उचित अन्नहीन मंत्रहीन दक्षिणारहित और श्रद्धारहित यज्ञ हो सो तामस कहा है ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव ब्राह्मण गुरु और विद्वानोंका पूजन शुचिता सरलता ब्रह्मचर्य और परपीडावर्जन यह शरीरसंबंधी तप कहा है ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं 'चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

जो वचन उद्वेगकारक न होय और सत्यप्रिय हित होय और वेदपाठ मंत्रजपादिकोंका अभ्यास यह वाणीमय तप कहा है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता सदयपना याने क्रूर न होना, मितभाषण मनको वश करना और अंतःकरणकी शुद्धता यह इतना तप मानस कहाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७॥

फलकी इच्छा न करनेवाले योग्य पुरुष तिनकरके परम श्रद्धाकरके तपाहुआ सो तीनों प्रकारका याने मानस, कायिक, वाचिक तप सात्त्विक कहा है ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

जो तप सत्कार मान और पूजाके वास्ते और दंभकरके भी किया जाता है सो यहां शास्त्रमें राजस चल और नाशमान कहा है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप दुराग्रह करके आपनी पीड़ाके निमित्त अथवा दूसरेके बिगाड़के वास्ते किया होय सो तामस कहा है ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

जो दान देना ही चाहिये ऐसी बुद्धिकरके कुरुक्षेत्रादि देशमें और ग्रहणादिकालमें जिससे फिर कुछ अपना उपकार न होय

ऐसेको तथा वह पात्र याने तपस्वाध्याय करके रक्षक होय उसको दिया जाय सो दान सात्विक कहा है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

जो प्रत्युपकारके वास्ते अथवा फलके निमित्त करके फिर भी राहुवगैरह ग्रहनिमित्त उग्रदान दिया जाय सो राजस कहा है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो दान तिरस्कार अवज्ञापूर्वक देशकालविना और कुपात्रोंको दिया जाता है सो दान तामस कहा है ॥ २२ ॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ओं तत् सत् ऐसे तीन प्रकारका वेदका निश्चय जाना गया है "याने ओंशब्दसे कर्मका स्वीकार करना उचित है, तत् शब्दसे तदर्थ याने परमेश्वरार्थ करना उचित है सत्से श्रेष्ठकर्म साधुवृत्तिसे करना ऐसा वेदका निश्चय है" उसी निश्चयकरके युक्त ब्राह्मण याने वेदकर्म करनेवाले तीनों वर्णकर्मस्वीकारार्थ और वेद जो ईश्वरार्थकर्मको प्रतिपादन करते हैं और यज्ञ दान जो सत्कर्म य मैंने पूर्वकालमें स्थापित किये हैं ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
प्रवर्त्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

जिससे कि वेदवादी तीनों वर्ण कर्म स्वीकारार्थ हैं इससे ओं ऐसे कहिके याने कर्म स्वीकार करके वेदवादी तीनों वर्णोंकी विधिसे कही हुई यज्ञ दान तपकी क्रियायें निरंतर प्रवर्त होती हैं २४॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः २५॥

तत् याने कर्म तदर्थ है याने पमेश्वरार्थ है ऐसी बुद्धिसे फलें-कर अनुसंधान नहीं करके यज्ञ, दान, तप, क्रिया और अनेक प्रकारकी दानक्रियाँ मोक्षके चाहनेवालों करके की जाती हैं॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ॥
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

हे अर्जुन ! श्रेष्ठपनेमें और साधुभावमें सत् ऐसा यह वाक्य युक्त करते हैं तथा श्रेष्ठ कर्ममें भी सत्शब्द युक्त करते हैं॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते॥
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाऽभिधीयते ॥ २७ ॥

जो यज्ञमें, तपमें और दानमें स्थिति है सो सत् ऐसे कहाती है और जो ईश्वरार्थ कर्म हैं सो सत् निश्चय हैं ऐसे कहते हैं इन चारों श्लोकोंमें ॐ तत् सत् इनका खुलासा किया है॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

हे पृथापुत्र ! जो श्रद्धाविना होमाहुआ हवन दिया दान तपाहुआ तप और कियाहुआ कर्म है सो असत् ऐसा कहाता है सो न परलोकमें न इस लोकमें सुखदायक है ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गी-
तामृततरंगिण्यां सप्तदशोऽध्यायप्रवाहः ॥ १७ ॥

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अब इस अठारहवें अध्यायमें सर्वगीताका सारांश निरूपण होगा, तहां अर्जुन प्रश्न करते हैं कि, हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! संन्यासका और त्यागका तत्त्व न्यारा न्यारा जाननेको चाहता हूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

ऐसा अर्जुनका प्रश्न सुनिके श्रीकृष्णभगवान् बोलतेभये कि, कवि जो सारासारविवेकी वे कामनावाले कर्मोंके छोड़नेको संन्यास जानते हैं और विचक्षण जो तत्त्वज्ञानी हैं वे सर्वकर्मोंके फलत्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कोई एक ज्ञानीपुरुष दोषवाला कर्म त्यागना चाहिये ऐसे कहते हैं और कितनेक और आचार्य यज्ञ, दान, तप, कर्म नहीं त्यागना चाहिये ऐसे कहते हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

हे भरतसत्तम ! उस त्यागमें मेरा निश्चय सुनो हे पुरुषनमें श्रेष्ठ !

जिससे कि, त्याग तीन प्रकारका कहा है इसीसे यज्ञ, दान तपरूप कर्म, नहीं त्याग करना ही योग्य है क्योंकि यज्ञ दान और तप ये ज्ञानियोंको भी पवित्र करनेवाले हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ ! ये यज्ञादिक भी कर्म ममता और फलोंको त्यागके करनेयोग्य हैं ऐसा निश्चय कियाहुआ मेरा उत्तम मत है ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७॥

कारण कि, जो नियमित संध्यादि पंचमहायज्ञादिक हैं उस कर्मका त्याग नहीं हो सकता है जो मोहसे किया उसका त्याग सो तामस कहाता है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो, कर्म दुःख ऐसे शरीरक्लेशके भयसे ही त्यागे वह त्यागनेवाला राजस त्यागको करके त्यागके फलको नहीं पाता है ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥

हे अर्जुन ! जो कर्म करनेही योग्य है ऐसीबुद्धिसे ममता और फलको त्यागिके नियमित याने उचित है ऐसी ही बुद्धिसे कियाजाय सो त्याग सात्त्विक जाना है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

जो सत्त्वगुणयुक्त बुद्धिमान्, संशयरहित कर्मफलत्यागी है सो अकुशलको याने संसारकारक कर्मको न निंदता है न कुशल याने यज्ञादिक कर्ममें आसक्त होता है ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

जिसवास्ते कि, देहधारी सब कर्म त्यागनेको समर्थ नहीं हो सकता है इससे जो कर्मफलका त्यागी है वह त्यागी ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न च संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अप्रिय प्रिय और मिश्रित ऐसा कर्मका तीन प्रकारका फल कर्मफलानुरागियोंके मरेपरे होता है और कर्मफलत्यागियोंको कहीं भी नहीं होता ॥ १२ ॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो ! सबकर्मोंकी सिद्धि के वास्ते ये पांच कारण सांख्यसिद्धांतमें कहे गये हैं सो मेरेसे सुनो ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥१४॥

वे ये कि, अधिष्ठान याने आधार अर्थात् शरीर तथा कर्त्ता याने जीव इस जीवके कर्त्तापनमें "ज्ञोऽत एव" "कर्त्ता शास्त्रार्थत्वात्" यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण है, और न्यारे न्यारे प्रकारके करण याने मनसहित पंच इंद्रियोंके व्यापार और अनेक प्रकारकी न्यारी न्यारी चेष्टा याने पांच प्राणवायुओंकी चेष्टा और

यहां पांचवां दैव याने अंतर्यामी अर्थात् मैं हूं इस विषयमें "परात्तु तच्छ्रुतेः" यह ब्रह्मसूत्र भी प्रमाण है। इसका शंकासमाधान वाक्यार्थबोधिनीमें किया है ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभतेऽर्जुन।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

हे अर्जुन ! शरीर वाणी और मन करके जो न्याय अथवा अन्यायपूर्वक जो कर्म प्रारंभ किया जाता है उसके ये पांचे कारण हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसे सिद्धांत होनेपर भी तहां जो केवल आत्माको कर्त्ता जानता है सो दुर्बुद्धिपुरुष अकृतबुद्धित्वसे याने यथार्थनिश्चयकारक बुद्धिहीन होनेसे नहीं जानता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥१७॥

जिसके अपने कर्त्तापनका भाव नहीं है जिसकी बुद्धि कर्ममें नहीं लिप्त होती है सो इन लोकोंको मारके भी न मारता है न पापमें बँधता है तात्पर्य यह कि, तुम भीष्मादिकके वधसे डरते हो जो मनुष्य ममता अहंतारहित होके स्वधर्माचरण करता है उसको उस कर्मजन्य पापपुण्यका भय नहीं होता ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान जो कर्त्तव्यकर्मका जानना ज्ञेय जो वह कर्म, परिज्ञाता उसके सम्यक् जाननेवाले ऐसे तीन प्रकारका शास्त्रविधान है तहां करण जो कर्म करनेकी साधनसामग्री जैसे यज्ञमें स्रुवादिक युद्धमें शस्त्रादिक, कर्म जो करना हो, कर्त्ता करनेवाला

ऐसे तीन प्रकारका कर्मके वास्ते संग्रह है अर्थात् इनहीसे होसकेगा इनविना नहीं ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्तेति त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान कर्म और कर्त्ता ऐसे ये गुणभेदकरके सांख्यशास्त्रमें तीन प्रकारहीके कहे हैं उनको भी यथावत् सुनो ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् २०॥

जिस ज्ञानकरके ब्राह्मण क्षत्रियादि विभागयुक्त सर्वभूतोंमें आत्मा विभागरहित याने समान है ऐसे अविनाशी एक भावको देखता है उसे ज्ञानको सात्त्विक जानना ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

और जो सब भूतोंमें अनेक भावाविष्ट यानी ब्राह्मणादि छोटे बडे उत्तम मध्यम दृश्यमान भेदयुक्त आत्माको भी उत्तम मध्यम न्यारे न्यारे जानता है इस न्यारेपनेकरके जो ज्ञान है उस ज्ञानको राजस जानो ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो कि एक ही कर्ममें आसक्त हो उसेही सर्वफलयुक्त जाने पर वास्तवमें वह निरर्थक हो, कारण कि इसमें तत्त्वार्थ नहीं है और तुच्छ है यानी भूतादि आराधनरूप ज्ञान सो तामस कहीं है ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

जो कर्म फलकी इच्छा न करनेवालेने जानकर कर्त्तव्य फला-संगरहित और राग द्वेष विना किया हो सो सात्त्विक कहा है२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

जो बहुत परिश्रमयुक्त कर्म, कामनाकी प्राप्तिकी इच्छाकरके अथवा फिर अहंकारसहित किया हो सो राजस कहा है ॥२४॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्यं च पौरुषम्।
मोहादारभते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

जिस कर्मके परिणामको दुःख द्रव्यादिकका क्षय तथा प्राणि-पीडा और अपने पुरुषार्थको न देखके मोहसे जो कर्म आरंभ किया जाता है सो तामस कहाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते २६

जो पुरुष कर्मफलासक्तिरहित अर्थात् मैं कर्त्ता हूं ऐसे न मान-नेवाला धीरज और उत्साहयुक्त तथा सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार हो सो कर्त्ता सात्त्विक कहाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो कर्ममें आसक्त होके कर्मफलको चाहनेवाला लोभी अर्थात कर्ममें यथार्थ खर्चका न करनेवाला प्राणिपीडा करनेवाला अप-वित्र हर्षशोकयुक्त हो सो कर्त्ता राजस कहा है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो शास्त्रोक्त कर्मके अयोग्य विद्याहीन अनम्र मारणादिकर्ममें

तत्पर ठग आलसी विषाद करनेवाला और घड़ीके काममें एक दिन बितानेवाला हो सो कर्त्ता तामस कहाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! संपूर्ण न्यारा न्यारा मेरा कहा हुआ गुणोंकरके तीन२ प्रकारका बुद्धि और धीरजका भेद सुनो ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति कार्य अकार्य और भय अभय बंध और मोक्षको जानती है सो सात्त्विकी कहाती है ३०

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पृथापुत्र ! जिस बुद्धिकरके धर्म और अधर्म तथा कार्य और अकार्यको भी उलटा जानै सो बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि अज्ञानसे ढकी हुई होनेके कारण अधर्मको धर्म यह तथा सर्व अर्थोंको उलटे मानै सो तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ३३

हे पार्थ ! जिसे अखंडमोक्षसाधनरूप धारणाकरके योगबलसे मन प्राण और इंद्रियोंकी क्रियाको धारण करे सो धारणा सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयते नरः ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पार्थ! फलकी इच्छा करनेवाला पुरुष फलकी इच्छाके प्रसंगसे जिस धारणाकरके धर्म अर्थ कामोंको धारण करता है सो धारणा राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

दुष्टबुद्धि पुरुष जिस धारणाकरके स्वप्न भय शोक विषाद और मदको नहीं त्यागता है उस धारणाको तामसी मानते हैं ॥३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब सुख भी तीन प्रकारका मुझसे सुनो, जिस सुखमें अभ्यास करनेसे मन रमता है और दुःखका नाश होता है, जो उसके पहिले विषतुल्य तथा अंतमें अमृततुल्य हो वह आत्मबुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न हुआ सुख सात्त्विक कहा है॥३६॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

जो विषयेंद्रियके संयोगसे प्रारंभमें अमृततुल्य हो और अंतमें विषके तुल्य हो सो सुख राजस कहा है ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो प्रारंभमें और अंतमें भी अपना मोहक सो ऐसा निद्रा आलस और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा है ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

जो वस्तु प्रकृतिसे उत्पन्न इनें सत्त्वादि तीनों गुणोंकरके मुक्त हो सो पृथिवीमें वा स्वर्गमें वा फिर वहां भी "देवांमें नहीं है" ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे परंतप! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके और शूद्रोंके स्वभावसे उत्पन्न गुणोंकरके कर्म न्यारेन्यारे किये हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

शम जो बाह्यइंद्रियोंका संयम, दम अंतःकरणका संयम, तप शास्त्रोक्त व्रतादिक, शौच बाह्य और आभ्यंतर, क्षमा और सरलता, ज्ञान स्वस्वरूप परस्वरूपका जानना, विज्ञान जो स्वरूपज्ञान होनेपर ईश्वरभक्ति करना, आस्तिक्य जो वेदशास्त्रके वाक्योंमें विश्वास, ये सब ब्राह्मणके कर्म स्वभावसे ही हैं॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शूरपना तेज याने जिससे दूसरे डरें धीरज चतुराई और युद्धमें भागना नहीं उदारता और प्रजाको स्वाधीन रखना यह क्षत्रियकी स्वभावज कर्म है ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

खेती करना गाई पालना वणिज करना यह वैश्योंका स्वाभाविक कर्म है तथा तीनों वर्णोंकी सेवारूप कर्म शूद्रका स्वभावसे है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

ऐसे आपआपके कर्ममें तत्पर हुआ मनुष्य सिद्धिको यानी मोक्षको प्राप्त होता है, स्वकर्मनिष्ठ पुरुष जैसे मुक्तिको पाता है सो सुनो ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥ ४६ ॥

जिस ईश्वरसे भूत प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई तथा रक्षण होता है जिस करके यह सर्व विश्व व्याप्त है उस ईश्वरको आपके स्वाभाविक कर्मोंसे पूजके मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अतिउत्तम परधर्मसे अपना धर्म गुणहीन भी कल्याणकारक है. अपने जातिविहित कर्म करता हुआ पापको नहीं प्राप्त होता है. यह तात्पर्य कि तुम्हारा हिंसात्मक भी धर्म है तो भी तुम्हारा कल्याण उसीसे है ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

हे कुंतीपुत्र ! दोषयुक्त भी अपने वर्णोचित धर्मको न त्यागना क्योंकि सर्वज्ञान कर्मादिक आरंभ दोषकरके युक्त हैं जैसे धूवाँकरके अग्नि युक्त है ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्व कर्मोंमें बुद्धिको आसक्त न करनेवाला मनको वश किये

हुए वांछारहित पुरुष परम नैष्कर्म्यसिद्धिको याने आत्मज्ञानको त्यागकरके प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कुन्तीपुत्र ! उस आत्मज्ञानको प्राप्त हुआ जैसे ब्रह्मको पुरुष प्राप्त होता है वैसे संक्षेपकरके मुझसे सुनो, जो ध्यानात्मज्ञानकी परम निष्ठा है याने उपायकी सीमा है उसे भी॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

सो जैसे कि, शुद्धबुद्धिकरके युक्त और धारणासे मनको वश करके शब्दादिक विषयोंको त्यागके और रागद्वेषोंको त्यागके एकांत बैठा हुआ अल्पाहारी शरीर वाणी और मनको वश किये हुए नित्य ध्यानयोगपरायण वैराग्यको धारण किये हुए अहंकार बल दर्प काम क्रोध ममता, इन सबको त्यागके निर्मम शांत हुआ पुरुष आत्मज्ञानमय होता है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

ऐसे आत्मज्ञानमय हुआ प्रसन्नमनयुक्त न कोई वस्तु मेरे सिवाय जो खो गयी तो उसको न सोचता है न चाहता है सर्व भूतोंमें समदृष्टि हुआ अतिउत्तम मेरी भक्तिको प्राप्त होता है

याने सर्व जगत्को मेरे शरीरभूत परम विभूति जानके पक्षपात-रहित सर्वमें मुझहीको देखता हुआ मेरा ही स्मरण मनमें करता है कि, ये सब मेरे स्वामीके हैं यही परमभक्ति है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

मैं जितना और जो हूँ उतना और वैसा मुझको भक्तिकरके निश्चयपूर्वक जानता है फिर मुझको निश्चयपूर्वक जानके मुझहीको उसके पीछे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

मेरा आश्रित जन सब लौकिक वैदिक कर्मोंको भी सदा करता हुआ मेरे अनुग्रहसे सनातन नाशरहित पदको प्राप्त होता है॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मेरे परायण हो चित्तकरके सर्व कर्मोंको मुझमें स्थापित करके याने मेरे अर्पण करके, ज्ञानयोगका आश्रय करके निरंतर मुझमें चित्तको लगाये हुए स्थित रहो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें चित्त लगाये हुए मेरे अनुग्रहसे सर्व संसारदुःखोंको तरोगे जो कदाचित् तुम अहंकारसे मेरा उपदेश न सुनोगे तो नष्ट होगे ॥ ५८ ॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैवं व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

जो अहंकारका आश्रय करके न युद्ध करूंगा ऐसे मानोगे सो

भी तुम्हारा निश्चय वृथा होगा क्योंकि तुमको तुम्हारा जातिस्व-
भाव ही युद्धमें लगा देगा ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

हे कुंतीपुत्र ! जो युद्ध मोहसे करनेको नहीं चाहते हो सो अपने
क्षत्रियस्वभावजन्य अपने कर्मकरके बंधे हुए परवश हुए भी
करोगे ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर अपनी मायाकरके यंत्र जो शरीर उनमें रहे हुए
सब भूतोंको भ्रमाता हुआ सर्व भूतोंके हृदयस्थलमें स्थित है ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२ ॥

हे भारत ! सर्व भावना करके उसी परमात्माके शरण हो उसीके
अनुग्रहसे परम शांति और सनातन स्थानको प्राप्त होवोगे ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

मैंने यह गोप्यसे भी गोप्य ज्ञान तुमको कहा है इसको
अच्छी तरहसे विचारके जैसा चाहो वैसा करो ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम् ६४ ॥

सर्वगोप्यमें भी अतिगोप्य मेरा परम वाक्य फिर सुनो मेरे
अतिदृढ प्रिय हो तिससे तुमको यह हित उपदेश करता हूं ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ६५ ॥

मुझमें मनको लगावो मेरे भक्त हो मेरा पूजन करनेवाले हो मुझको नमन करो मुझको ही प्राप्त होगे तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूं क्योंकि मेरे प्रिय हो ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

हे अर्जुन! तुम सर्व धर्मोंको परित्यागकर याने सर्व धर्मोंके फलको त्यागके अर्थात् "यत्करोषि यदश्नासि" इत्यारभ्य "तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इस रीतिसे मेरे अर्पण करके मुख्य मेरे शरण प्राप्त हो अर्थात् "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः" इस प्रमाणसे मुझको पूज्य और मुझको प्राप्य जानके मेरी आज्ञा करो याने मेरा पूजन जानके स्वधर्मरूप युद्ध करो मैं तुमको इन भीष्मादिकोंको युद्धमें मारने इत्यादिक सर्व पापोंसे मुक्त करूंगा तुम मत शोच करो. यहां इस श्लोकमें कोई विद्वद्धूषण अर्थ करते हैं कि, चातुर्मास्ययाग श्राद्ध पितृतर्पण इत्यादि कर्मरूप धर्मोंको त्यागके मेरे शरण हो याने मुझको और आपको एक ही जानो इस एकताज्ञानरूप भक्ति करो तब विचारना चाहिये कि, प्रथम तो "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इत्यादि प्रमाणसे जीवब्रह्मकी स्वरूप एकता नहीं हो सकती है मुक्त होनेपर भी "मम साधर्म्यमागताः" और "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च" तथा "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिक गीता ब्रह्मसूत्र और श्रुति प्रमाणसे भी भोगादिकमें समता होती है एकता नहीं जहां एकता भी कही है तहां अंतर्यामीभावसे अथवा "द्वा सुपर्णा" इत्यादि श्रुतिप्रमाण सखापनसे कही है दूसरे 'भज सेवायाम्' धातुका भक्तिशब्द होता है, भक्ति याने सेवा सो भी एकतामें बननेकी नहीं इससे जीवपरमात्मासे न्यारे परमात्माके स्वाधीन हैं यह सिद्ध हुआ तब

जो अर्थ किया कि, मेरी और आपकी एकतारूप भक्ति करो सो यह अर्थ तो सिद्ध हुआ नहीं. अब जो धर्मको त्यागनेका अर्थ किया वहां "धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे"। "श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः"। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" इत्यादि वाक्योंमें विरोध आता है इस वास्ते सर्व धर्मोंका फल त्यागके निष्काम और ईश्वरपूजनरूप जानके करना यही सिद्ध होता है. यहां इसी अध्यायमें प्रमाण हैं "निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम। त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः" यहांसे लेके "संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते" इत्यादि और भी कहे हैं. ग्रंथ बढनेके भयसे नहीं लिखते हैं, सुज्ञजन इतनेमेंही समझके धर्माचरण करेंगे ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाऽभक्ताय कदाचन।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं नच मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

हे अर्जुन! जिसने तप न किया हो तथा मेरा और मेरे जनोंका भक्त न हो और जो उपदेष्टाकी सेवा न करे और जो मेरी निंदा करे उसको तुम यह कभी न कहना ॥ ६७ ॥

इयं दं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो इस परम गोप्य गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें प्रसिद्ध करेगा वह मुझमें परम भक्तिको करके मुझको ही प्राप्त होगा इसमें संशय नहीं ॥ ६८ ॥

नच तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता नच मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

उस गीताको भक्तोंमें प्रसिद्ध करनेवालेसे अधिक मेरा प्रिय-कारक पृथिवीपर मनुष्योंमें दूसरा कोई नहीं है और ने उसके बराबर इतर मुझको प्रिय होगा ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

जो मेरे तुम्हारे इस धर्मवर्द्धक संवादरूप गीताका अध्ययन करेगा उस करके मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊंगा ऐसा मैं मानता हूं ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ७१

जो मनुष्य निंदारहित और श्रद्धायुक्त श्रवण भी करेगा सो भी संसारसे मुक्त होके पुण्यकर्म करनेवालोंके सुखद लोकोंको प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

भगवान् पूंछते हैं-कि, हे पृथापुत्र धनंजय ! इस ज्ञानको तुमने एकाग्रचित्तसे सुना कि नहीं जो सुना तो अज्ञानजन्य मोह तुम्हारा नष्ट हुआ कि नहीं सो कहो ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

श्रीकृष्णके वचन सुनके अर्जुन कहते हैं-कि,हे अच्युत ! तुम्हारे अनुग्रहसे मोह नष्ट हुआ और मैंने ज्ञान प्राप्त किया अब संदेहरहित स्थित हूं आपका वचन जो स्वधर्मरूप युद्ध करनेकी आज्ञा सो करूंगा ॥ ७३ ॥

संजय उवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं-कि, हे राजन् ! ऐसे यह श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुनका अतिअद्भुत रोमांचकारक संवाद मैंने सुनी ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ७५॥

मैं यह अतिगोप्य योग साक्षात् स्वयं कहते हुए योगेश्वर श्रीकृष्णके मुखसे वेदव्यासजीके अनुग्रहसे सुनता हुआ ॥७५॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! इस श्रीकृष्ण और अर्जुनके अद्भुत पुण्यदायक संवादको सुमिर सुमिरके वारंवार हर्षित होता हूं ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ७७

हे राजन् ! उस अद्भुत भगवान्के रूपको भी सुमिर सुमिरके मेरे बड़ा विस्मय होता है और वारंवार हर्षित होता हूं ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यास-
योगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

हे राजन्! जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहां धनुषधारी अर्जुन हैं तहाँही अचल संपदा, अचल विजय, अचल वैभव और अचल नीति है यह मेरा निश्चित मत है॥ ७८॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता-मृततरंगिण्यां अष्टादशाऽध्यायप्रवाहः॥ १८॥

अबराब्ध्यकभूसंख्ये विक्रमार्कस्य संवति।
माघमासे दले शुभ्रे द्वितीयायां तिथौ बुधे॥ १॥
इयं संपूर्णतां याता गीताऽमृततरंगिणी।
श्रीमद्भागवताचार्यानुग्रहात्स गुरुर्मम॥ २॥

समाप्तोऽयं ग्रंथः।

कतिपय वेदान्त-ग्रन्थ

भगवद्गीता-स्वामी आनन्द गिरिकृत हिन्दी टीका सहित ।

भगवद्गीता-श्री स्वामी निरंजन देवजी सरस्वतीकृत अद्वैत पद प्रकाशिका संस्कृत टीका तथा हिन्दी टीका सहित। आत्मज्ञान जिज्ञासु भगवत्प्रेमियोंके लिये अतीव उपयोगी ।

पक्षपात रहित अनुभव प्रकाश-बाबा काली कमली वाले विशुद्धानन्दजी कृत। इसमें चारों वेद, षट्शास्त्रोंका सार, अठारहों पुराणों की कथा, आदि का अध्यात्म विद्या परक अर्थ लिखा है।

श्रुति सिद्धान्त रत्नाकर अर्थात् द्वैताद्वैत वेदान्त का सार ।

सप्तर्षि ग्रन्थ-सप्तर्षियों द्वारा स्वायंभुव मनुको ओंकारादि तत्व प्रतिपादन । परमहंस श्यामाप्रसन्न देव द्वारा प्रत्यक्ष क्रियाके वृतान्त रूपमें निर्मित ।

ज्ञानवैराग्य प्रकाश-काशी निवासी परम हंस स्वामी परमानन्दजी कृत। उपन्यास रूप अपूर्व वेदान्त ग्रन्थ।

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
खेतवाड़ी-बम्बई नं०-४.

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
कल्याण-बम्बई.

500-2-30

९५/

अधिकतम सूची मूल्य ~~६ रुपया मात्र~~